स्वं महिमानमायजताम् ॥ यजुः ॥

अपने प्रभाव का गौरव करो ।

विषय-सूची।

संकल्प-शक्ति

प्रथम परिच्छेद

पाठ १

संकल्प-शक्ति का स्वरूप

प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन के प्रत्येक कार्य में यह अनुभव करता है कि जो कार्य उसने किया है उसके अन्दर किसी न किसी मानसिक शक्ति की आवश्यकता थी कि जिससे वह उस कार्य में सफल हुआ है। प्रत्येक कार्य चाहे वह सुगम हो या कठिन संकल्प की आवश्यकता रखता है। प्रत्येक मनुष्य के पास स्वाभाविक एक संकल्प-शक्ति होती है कि जिसकी सहायता से उसे इस संसार में विजय प्राप्त होती है।

संकल्प-शक्ति किसी विशेष आकार या रंग की नहीं है अर्थात् वह एक मानसिक क्रिया है न कि किसी इन्द्रिय का विषय। इस कारण उसका ज्ञान उसकी उन्नति और उसके द्वारा प्रयास करने से ही प्राप्त हो सक्ता है अन्यथा नहीं।

प्रत्येक व्यक्ति के पास संकल्प-शक्ति है जैसा कि ऊपर बत-लाया जा चुका है और उसकी उन्नति प्रत्येक कर सक्ता है। संसार में कई मनुष्य ऊंचे होते हैं और कई छोटे होते हैं कि

जिस सीमा पर दूसरे मनुष्य, यदि उनमें वे बातें प्राकृतिक न हों तो, प्रयत्न करने पर भी नहीं पहुंच सकते। ठिगना मनुष्य ऊंचा नहीं बन सकता और ऊंचा मनुष्य न नीचा हो सकता है; यह कार्य प्रकृति का है। वरन संकल्प-शक्ति के संबंध में यह नियम नहीं है। निःसंदेह कई मनुष्य स्वभाव से ही अधिकांश संकल्प-शक्ति वाले होते हैं कि साधारण पुरुष को उस अंश तक पहुंचने में बहुत परिश्रम और उचित समय की आवश्यकता पड़ती है। वरन यह निर्विवादित है कि संकल्प-शक्ति न्यून वा अधिकांश में प्रत्येक के पास होती है और प्रत्येक मनुष्य उसकी उन्नति कर सकता है।

संकल्प-शक्ति की उन्नति संकल्प-शक्ति की सहायता से ही हो सकती है। यावत् संकल्प को संकल्प-शक्ति की उन्नति में न लगाया जावे, संकल्प शक्ति की उन्नति होना असंभव है। संकल्प शक्ति मानसिक क्षेत्र की अन्तिम वृत्ति है और उसीसे प्रत्येक कार्य्य प्रारंभ होता है।

संकल्प-शक्ति से क्या लाभ है, उसकी उन्नति में क्यों प्रयत्न किया जाय, इस प्रश्न का उत्तर केवल यही है कि प्रत्येक कार्य्य संकल्प-शक्ति द्वारा ही होते हैं, अतएव कठिन कामों में सफलता प्राप्त होने निमित्त अधिक संकल्पशक्ति की आवश्यकता पड़ती है बनिस्वत सरल कामों के। आप यह जान गये होंगे कि आज पर्यंत जितने भी मनुष्य हुए हैं कि जिन्होंने संसार में अपने लिए या संसार के लिए कुछ भी किया है वे वेही व्यक्तियें थीं कि जिनके पास संकल्प-शक्ति पर्याप्त अंश में थी। कठिन से कठिन काम को असह्य आपत्तियों एवं प्रलोभनों के आते हुए भी नहीं छोड़ा कि जहां साधारण व्यक्ति कुछ भी

अनुमान नहीं कर सकते। हम दूसरों की प्रशंसा करते हैं वरन यदि वही कार्य्य हमारे सन्मुख विद्यमान होता तो हम उसे किञ्चित् भी न करसके होते। क्या कारण है कि उस व्यक्ति ने उसे धैर्य्य के साथ समाप्त कर लिया। कई प्रलोभन आये वरन उन सब पर विजय प्राप्त की।

उस व्यक्ति और सर्वसाधारण में क्या भिन्नता थी, अवश्य ही कुछ शक्ति थी और वह साधारण न थी। विजय प्राप्त कराने वाली वह एक संकल्प-शक्ति थी, कि जिसके सन्मुख कोई कठिनता, प्रलोभन या असफलता नहीं ठहर सकती। संकल्प-शक्ति अनेक दैविक शक्तियों को मनुष्य में उन्नत करती है, जहां वह अपने से संपन्न मनुष्य को आनन्द देती है वहां उस मनुष्य से संबंधित जनों को भी सुखदाई होती है। इस से वंचित पुरुष जहां हतोत्साहित होकर चिन्ता और तृष्णा की प्रचंडाग्नि में तड़फते हैं वहां इस से संपन्न मनुष्य अदम्य उत्साह के साथ पुरुषार्थ द्वारा विजय प्राप्त करते हैं।

यह दिव्य गुणवाली शक्ति अपने आप ही उन्नत होती है और ौर शक्ति की अपेक्षा नहीं रखती। उसका जितना सदुपयोग ेया जायगा वह उतनी ही बढ़ेगी, उसका अनुपयोग ही उसकी ाति करता है। अन्य शक्तियों की उन्नति में अपर शक्तियों ी सहायता और द्रव्य की आवश्यकता पड़ती है, वरन् संकल्प-ाक्ति अपने आप की ही शक्ति द्वारा बढ़ती है, और अपने स्वामी ो कभी घाटा नहीं देती। दूसरी शक्तियां संकल्प का आश्रय ती हैं वरन संकल्पशक्ति किसी का आश्रय नहीं ढूंढती।

इस पुस्तक में संकल्प की उन्नति करने के लिए जिन ाधनों का वर्णन किया है उनमें से, कुछ साधन बालक

के खेलवत् सरल एवं अनुपयोगी प्रतीत होंगे वरन सरल मार्ग का अनुसरण करने से ही मनुष्य उन्नति के उच्च शिखर पर पहुंच सक्ता है। कठिन कामों को प्रथम लेकर कार्यारंभ करने से मनुष्य मार्ग में ही अविजय प्राप्त कर हतोत्साहित हो जाता है।

हमारे कई पाठकगण संकल्प का इतना परिचय पाकर इस शक्ति को उन्नत करने में इतने उत्सुक हो गए होंगे और प्रायः आज ही इस लेख को समाप्त कर उद्धृत की गई शिक्षाओं में से कई एक का अनुसरण प्रारंभ कर देंगे परन यह अशुभ चिह्न है; क्योंकि इतना उत्तेजित उत्साह चिरस्थायी नहीं होता। दो चार या आठ दिन में ही यह उत्साह अपनी प्राथमिक स्थिति पर पहुंच जाता है और परिणाम कुछ भी प्राप्त नहीं होता।

हमारे पास न कोई यंत्र है और न कोई तावीज कि जिसको भेंट कर हम आपमें भीम-संकल्प उत्पन्न कर सकें। न कोई जादू की अंगूठी है और न कोई इन्द्रजाल की हस्तक्रिया। हमने न कोई ग्रह का आविष्कार किया है और न कोई टेलिस्मन् का, कि जिस उपहार को हम समर्पित कर शीघ्रोत्साहित होने वाले पाठकों की सांत्वना कर सकें। वरन् एक छोटी सी कुंजी ही हम सविनय भेंट करते हैं और वह है सतत परिश्रम और दृढ़ता। अंग्रेज़ी में एक कहावत प्रसिद्ध है कि "Rome was not built in a day;, अर्थात् "रोम एक दिन में नहीं बना था।" यदि पाठक इस बात को समझलें कि जो वस्तु जितनी जल्दी उत्पन्न होती है उतनी शीघ्रता से ही उसका पतन भी हो जाता है। इस कारण यदि आपको संकल्पशक्ति प्राप्त करना है तो धैर्य रख सतत-पुरुषार्थ की ही शरण लेना चाहिए। जिस दिन से आप इसका प्रारंभ करेंगे उसी दिन से आपको लाभ प्रतीत होने लगेगा।

पाठ २

संकल्प-शक्ति का इतिहास ।

कुछ अंग्रेज विद्वान् यह कहा करते हैं कि भारतवासी हमसे कुछ सीख वैदिक मंत्रों का कपोलकल्पित अर्थ कर लेते हैं और जिसका हम आविष्कार करते हैं उसका परिचय वैदिक सूक्तों में बतला देते हैं। 'Spiritualism' "प्रेतात्मा से बातें करना" इस विद्या का विरुद्ध पक्ष लेकर मैं एक अंग्रेज़ महोदय से बातें कर रहा था। उस समय उक्त महोदय ने यह भी कहा था कि यूरोप अन्य विद्याओं के समान मानसिक विज्ञान में भी भारत से आगे बढ़ गया है और हिन्दी भाषा में मानसिक विज्ञान पर लिखित पुस्तकों को अंग्रेज़ी पुस्तकों के आधार पर लिखी हुई बतलाई। हमारे कई देश-वासी भी इसे स्वीकार कर लेते हैं। अतएव इस पाठ में मैं यह बतलाने का प्रयत्न करूंगा कि संकल्प-विद्या की उत्पत्ति और उन्नति प्रथम कहां हुई।

यज्जाग्रतो दूरमुदैति········ शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

यजु० ३४। १ ॥

इस मंत्र में मानसिक तत्त्वों का विचार है और परमेश्वर से प्रार्थना की गई है कि हमारा मन शुभ संकल्प करनेवाला बने।

(२) संकल्प-शक्ति के गुण ।

आकूतिं देवीं सुभगां पुरो दधे चित्तस्य माता सुहवाना अस्तु ।
यामाशामेमि केवली सा मे अस्तु विदेयमेनां मनसि प्रविष्टाम् ॥

अथर्व० १९। ४। २॥

* अर्थात् दिव्यगुणों से युक्त उत्तम भग को उत्पन्न करने वाली (आकूतिम्) संकल्प-शक्ति को मैं आगे रखता हूं, चित्त की जननी यह शक्ति हमारे लिए सहज में बुलाने योग्य हो। जिस आशा को मैं प्राप्त होऊं वह मेरी कामना अकेली हो मन में प्रविष्ट हुई इस संकल्प-शक्ति को मैं प्राप्त होऊं !! इस मंत्र में संकल्प-शक्ति के निम्नलिखित गुणों का वर्णन है।

(१) देवी अर्थात् दिव्य गुणों वाली।

(२) सुभगा=ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य ये ६ भग हैं, संकल्प-शक्ति इनको प्राप्त कराने वाली है।

(३) चित्त की माता।

(४) केवली=एक और असङ्कीर्ण।

(५) सुहवा=सहज में प्राप्त होने योग्य।

(३) मह्यं यजन्तां मम यानीष्टाकूतिः सत्या मनसो मे अस्तु ॥ अथर्व० ५ । ३ । ४ ॥

मेरे किए हुए दान इत्यादिक मुझे प्राप्त रहें, मेरे मन का संकल्प सत्य हो। इस मंत्र में असत्य संकल्प के त्याग करने

---

* संकल्प-शक्ति के गुणों के अधिक परिचय के लिये देखो हमारी प्रकाशित पुस्तक "वैदिक जीवन" पृ० २६ से ३४ तक।

का वर्णन है। वेदों में और भी वर्णन इस संकल्प शक्ति का है वरन् यहां इतना ही देना पर्याप्त होगा। अब अन्यान्य ग्रन्थों में देखिये।

मनु महाराज ने भी संकल्प की महिमा इस प्रकार वर्णन की है। यथाः—

संकल्पमूलः कामो वै यज्ञाः संकल्पसम्भवाः।
व्रतानि यमनियमाश्च सर्वे संकल्पजाः स्मृताः॥

अर्थ—संकल्प, इच्छासिद्धि का मूल है। संकल्प से यज्ञ होते हैं। व्रत, यम और नियम भी संकल्पजन्य हैं॥

पद्मपुराण में लिखा है कि—

"संकल्पेन विना राजन् यत्किंचित्कुरुते नरः।
फलस्याल्पाल्पकं तस्य धर्मस्यार्धक्षयो भवेत्॥

अर्थः-हे राजन्! संकल्प के विना मनुष्य जो कुछ भी करता है उसका धर्म आधा रह जाता है और उसके कार्य्य का फल भी अल्पाल्प होता जाता है। लिङ्गार्चनतन्त्र के पांचवें पटल में लिखा है कि—

संकल्पं मानसं देवि! चतुर्वर्गप्रदायकम्।

अर्थः-हे देवि! मन का संकल्प 'चतुर्वर्ग' का साधक है। चतुर्वर्ग नाम है धर्म, अर्थ,काम और मोक्ष का अर्थात् संकल्प स ही इन चारों की सिद्धि होती है।

रामायण और महाभारत सरीखे गौरवपूर्ण ग्रंथों के पढ़ने से ज्ञान होता है कि संकल्पशक्ति की उन्नति किस प्रकार की

जाती थी। महाराजा दशरथ ने अपने संकल्प-बल के ही कारण अपने वचनों को नहीं तोड़ा और मृत्यु. जिससे कि सर्व प्राणी भय खाते हैं, के समर्पित अपने आपको कर दिया। इन ग्रंथों में असंख्य उदाहरण हैं वरन् उनकी कथा आज भी सर्व-प्रसिद्ध होने के कारण उनका वर्णन कर इस लेख का कलेवर बढ़ाना अभीष्ट नहीं है।

मि० फ्रेडरिक एनथोनी मेस्मर (१७३४-१८१५) जोकि वायना Vienna का एक डाक्टर था, उसने मानसिक विज्ञान के कुछ नियम निकाले थे। उस समय यूरोप में उसकी बात को किसी ने स्वीकार नहीं की। वरन् उसकी मृत्यु के पश्चात् यूरोप के विद्वानों ने उन नियमों के अनुसंधान से मानसिक विज्ञान में उन्नति करनी प्रारंभ की।

हज़रत ईसा के जन्म के पहिले ही वेद निर्मित हुए हैं और इस बात में यूरोप के इतिहासज्ञ भी हमसे सहमत हैं तो अब पाठकवृंद ही इस बात का निर्णय करें कि मानसिक विज्ञान का इतिहास कब और किस देश से प्रारंभ होता है।

वेद और शास्त्रों में यह विषय भरा पड़ा है और हर्ष है कि देश के विद्वानों का ध्यान अब इस ओर आकर्षित हुआ है।

पाठ ३

अदीन विचार।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ॥

मै० उ० ६ । ३४ ॥

स्वतंत्रता और परतंत्रता का कारण मन ही है। अर्थात् जिन मनुष्यों के मन में शुद्ध विचार उत्पन्न होंगे वे मनुष्य

कभी परतंत्र नहीं रह सके। जो मनुष्य सदा दीन और निर्बल विचारों का मनन करते हैं वे कभी स्वतंत्र नहीं हो सके।

वेद उपदेश देता है कि " अदीनाः स्याम शरदः शतम् " दीन न बनते हुए सौ वर्ष जीवित रहें। दीन हीन, निर्बल एवं कुत्सित विचारों के त्याग के लिए और सारी आयुष्य भरके लिए कह रहा है कि मनुष्य शुद्धसंकल्प, शुभ विचार वाला हो।

अर्थ और इन्द्रिय का संयोग होने से मन में क्रिया उत्पन्न होती है। प्रत्येक क्रिया कालान्तर में प्रतिक्रिया अवश्य उत्पन्न करती है, प्रत्येक क्रिया मन में संस्कार उत्पन्न करती है वरन् ये संस्कार बिना किसी विशेष प्रयत्न के या अकारण ही स्मरण नहीं होते, और न नष्ट होते हैं। किन्तु जब हम उसे खोजने के अर्थ एक नई क्रिया उत्पन्न करते हैं तब ये संस्कार इस नई क्रिया की शक्ति पाकर सबल हो जाते हैं और प्रतिक्रिया उत्पन्न करते हैं। अतः जितनी बार हम किसी विचार को दुहरायेंगे और जितना ध्यान और महत्व उसे देंगे उतनी ही सहायता प्रतिक्रिया को दृढ़ एवं सुगम होने में मिलेगी। क्योंकि क्रिया और प्रतिक्रिया का संबंध समान है अर्थात् जिस प्रकार क्रिया होगी उसी अंश में प्रतिक्रिया भी होगी। विचारों द्वारा ही शरीर कार्य्य करता है। अतः बुरे विचार द्वारा मन में फिर बुरे विचार उठना और शरीर द्वारा बुरे काम किये जाना सिद्ध होता है। हमारा शरीर निर्बल है, हम दलित हैं यदि हम इसी फ़िक्र में पड़े रहें और अपने को बार बार निर्बल कहें और औरों से भी इसी प्रकार सुनते रहें तो इस क्रिया और प्रतिक्रिया के सिद्धांतानुसार हमारा स्वास्थ्य प्रति-

दिन बिगड़ता ही जायगा। जब क्रिया के बराबर प्रतिक्रिया का होना आवश्यक है अतः हम कुविचारों के सम्बन्ध में जितनी मानसिक क्रिया कर आये हैं उतनी प्रतिक्रिया जब हो जायगी तभी विचारों से मुक्त होंगे। प्रतिक्रिया भी उसी प्रकार होनी चाहिये कि, उस पर ध्यान न दिया जाय नहीं तो फिर प्रतिक्रिया के चक्कर में पड़ना पड़ेगा।

बहुधा मनुष्य किसी बुरी वस्तु के त्याग करने में उसकी बुराई का निरंतर चिन्तन किया करता है। उस पर शोक और चिन्ता किया करता है। वरन् परिणाम यह होता है कि त्याग के बदले में वह उन प्रतिक्रियाओं के लिए मार्ग सुगम बना रहा है कि जिनकी क्रिया अभी हो रही है। इस कारण प्रत्येक मनुष्य को ऐसी परिस्थिति, मनुष्य, पुस्तक, दृश्य या शब्दों का त्याग करना चाहिये जो मन में कुत्सितभाव उत्पन्न करें। मन को सदैव शुभ विचारों से प्रसन्न रखना चाहिये कि जिससे उसे बुराई या दुष्परिणाम के विचार करने का अवकाश ही न मिले। वेद कहता है:—

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाँसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः॥

अर्थात् हे यजनीय प्रभो! हे देवेश्वर! हम कानों से सदा कल्याण को सुनें, आंखों से कल्याण को देखें, हमारे अङ्ग और उपाङ्ग दृढ़ होवें और आयुभर महात्मा सन्तजनों की सेवा करें।

आप अपने अंदर से दीन, हीन और दुर्बल विचारों का त्याग कीजिये और मन में धरिये कि मैं जो चाहूं सो कर सक्ता हूं। बहुतसे लोग अपने भाग्य या तक़दीर के भरोसे, तो कोई

ग्रह या तारे के भरोसे तो कोई और किसी पर विश्वास करते हैं वरन उन्हें यह विचारना चाहिये, पुरुषार्थ के विना फल की प्राप्ति नहीं होती। योगवाशिष्ठ के वैराग्य-प्रकरण में लिखा है कि पुरुषार्थ ही दैव है और कोई दूसरा दैव नहीं।

मनुष्य के जैसे विचार होते हैं वैसा ही मनुष्य बनता है। जैसे आप बोलते हैं, सुनते हैं. विचारते हैं या जो कुछ भी कर्म करते हैं. वे सब ही आपके चित्त में संस्काररूप से अंकित होते हैं, दीन विचारों से दीन कर्म होते हैं जिससे उन्नति नहीं होती वरन् आत्मा और मन दोनों ही दीन बन जाते हैं।

दीनता और परतंत्रता आत्मा के अनुकूल नहीं है। कई मनुष्य परमेश्वर से प्रार्थना करते समय यह कहा करते हैं कि मैं पापी हूं, नीच, दुष्ट. मूर्ख, खल और कामी हूं। वरन् यदि इन मनुष्यों को जनता में कोई पापी और मूर्ख कह कर पुकारे तो वे अतिरुष्ट हो जाते हैं और इन्हें अपशब्द कह कर भविष्य में इन शब्दों का इन के प्रति व्यवहार करने के लिये निषिद्ध करते हैं, यदि ये वास्तव में ही पापी और दुष्ट हैं तो आत्मा में इतना क्रोध उत्पन्न करने की आवश्यकता न थी। इससे सिद्ध होता है कि परमात्मा के प्रसन्न करने निमित्त ये शब्दजाल थे। आत्मा अनुकूल पदार्थों से प्रसन्न और प्रतिकूल से क्रोधित होती है। इससे भी सिद्ध होता है कि उच्च विचार ही आत्मा के अनुकूल हैं। अनुकूल कार्य्य से सफलता और उन्नति दोनों होती हैं और प्रतिकूल से असफलता और अवनति होती है। इससे भी सिद्ध होता है कि मनुष्य को उच्च विचार, जो कि आत्मा के अनुकूल हैं, रखना चाहिये। तूफान का वायु बड़ा पराक्रमी है। जनता में अधिक समुदाय के भाव शिक्षित नहीं हैं

अतएव सोच विचार कर दृढ़ता से विचारों में परिवर्त्तन करना चाहिये।

क्या आपने यह कभी अनुभव नहीं किया कि जब एक बड़ा भारी वजन जो कि मजदूरों से नहीं उठता है उसको उठाने के लिये "बहादुर वीरो! उठा लिया है!!!" इत्यादि उत्साहवर्धक शब्दों का प्रयोग किया जाता है। उत्साहवर्धक शब्दों को सुनकर मनुष्य में अदम्य उत्साह और नवीन शक्ति उत्पन्न होती है।

वीर नेपोलियन, कि जिसका नाम सुनकर सारा यूरोप कांप उठता था, का सिद्धांत था कि असंभव कुछ संसार में है ही नहीं; मैं सब कुछ कर सकता हूं, मैं विजयी हूं, मेरी विजय है, मेरे पास पराजय कभी भी नहीं आसकती।

यदि आप यह विचारें कि किस प्रकार आपके विचारों द्वारा आपका भावी जीवन आपके हाथ में है तो निःसंदेह आज ही से आप दीन विचार कभी भी नहीं आने देंगे।

उत वात पिताऽसि न उत भ्रातोत नः सखा।
स नो जीवातवे कृधि॥ ऋग्वेद १०। १८६॥

हे महाशक्तिसंपन्न परमात्मन्! तू हमारा पालक और संरक्षक है, तू हमारा भ्राता और हित करनेवाला सखा है। हे प्रभो! हमारा आयुष्य बढ़ाओ।

जब एक राजा का साधारण नौकर भी अपने स्वामी का अभिमान रखता है और दीनता का त्याग कर देता है तो आप अमृत जो परमात्मा है उसके पुत्र हैं, सखा हैं और भ्राता हैं और

सदा उसीके समीप रहते हैं, कितने अभिमानी होना चाहिए।

एक अंग्रेज़ कवि का कहना है कि:—

Though plunged in ills and exercised in care
Yet never let the noble mind despair.

अर्थात्:—चाहे चिन्ता और आपत्ति कितनी भी आवे वरन् मनुष्य को हतोत्साहित कभी भी नहीं होना चाहिए।

हीन और मलीन विचारों को अपने मस्तिष्क में स्थान न दीजिये सदा ऐसे ओजस्वी विचार अपने मस्तिष्क में रखिये कि जो उत्साह का वायुमण्डल अपने चारों ओर उत्पन्न कर सकें। अपने मित्र ऐसे ही चुनिये कि जो उक्त प्रकारके विचार धारण करते हों। बस, यही संकल्प-शक्ति की उन्नति का प्रथम सोपान है।

द्वितीय परिच्छेद

पाठ १

संकल्प शक्ति का विकास।

* सम्×क्लृप से संकल्प शब्द बनता है। सम् का अर्थ है अच्छा और क्लृप् का अर्थ है सामर्थ्य। मन की उस कल्पना का नाम संकल्प है, कि जिससे कार्य्य करने के लिए अच्छा सामर्थ्य प्राप्त हो। यह भाव संकल्प पद की रचना ही से सूचित हो रहा है।

शब्दस्तोम महानिधि में संकल्प का लक्षण कहा है कि 'अभीष्टसिद्धये इदमित्थमेव कार्यमित्येवंरूपे मनसो व्यापारभेदे' अर्थात् "इष्ट वस्तु की सिद्धि के लिये यह इस प्रकार ही करना चाहिए, इस प्रकार का जो व्यापार विशेष है उसे संकल्प कहते हैं। वही कोष फिर आगे चलकर लिखता है "कर्मसाधनायाभिलाप-वाक्ये" अर्थात् "कर्म की सिद्धि के लिये दृढ़ निश्चय का द्योतक जो एक प्रकार का मानस-कथन है उसे संकल्प कहते हैं।"

इन्द्रिय और अर्थ का संयोग होने से कल्पना उत्पन्न होती है। कल्पना से अनुभव अर्थात् ज्ञान होता है।

अनुभव+अनुकूलता=इच्छा अर्थात् वह कल्पना जिसका ज्ञान हो चुका है, संचित संस्कारों के अनुकूल होने पर इच्छा-

---

* देखो वर्त्तमान पुस्तक के प्रकाशक द्वारा प्रकाशित "आत्मिकउन्नति" पृ० १४, १५॥

रूप में परिणित होजाती है। इच्छा मन की दृढ़ता पाकर संकल्प बन जाती है। अर्थात् ज्ञान, अनुकूलता और दृढ़ता से संयुक्त कल्पना का नाम संकल्प है। जिस क्रम से संकल्प मन में उदय होता है, वह क्रम संकल्प की उक्त परिभाषा सूचित कर रहा है।

ज्ञान—प्रत्येक मनुष्य को कार्य्य आरम्भ करने के प्रथम इस बात को भलीभांति समझ लेना चाहिए कि उसे क्या करना चाहिए ? जिस कार्य्य को प्रारम्भ करना है और जिस विधि से वह कार्य्य किया जायगा, ये दोनों ही उसे इतनी अच्छी प्रकार समझ लेना चाहिए कि जिस समय उनकी आवश्यकता पड़े ठीक उसी समय उसे स्मरण हो जायें।

आप संकल्प तथा अन्यान्य शक्तियां चाहे कितनी भी उन्नत करलें वरन् यदि उद्देश और उसकी विधि नहीं जानते तो इन शक्तियों से कुछ लाभ नहीं पहुंच सकता और शनैः शनैः आपकी संकल्प-शक्ति क्षीण होने लगेगी। जिस प्रकार विना निशाने के निश्चित किया हुआ तीर अपने तरकस को खाली करना है; परिश्रम करते हुए भी इष्टफल नहीं प्राप्त करा सकता ठीक इसी प्रकार विना उद्देश के संकल्प-शक्ति का उपयोग वृथा है।

यदि कोई मनुष्य बड़ा तेज चलनेवाला है और बहुत दूर तक चल सक्ता है, वरन् वह चलने के पहिले यह न समझले कि मुझे चलना कहां है और किस मार्ग से मुझे चलना है, चलने के लिये मेरा उद्देश क्या है, और इन बातों के ऊपर विना विचार किये ही वह चलना प्रारंभ कर दे तो बतलाइये क्या उसका चलना सार्थक और निष्कंटक होगा। सर्वदा असंभव है।

जितना आपको उद्देश का ज्ञान भलीभांति होगा उतनी ही आपकी मानसिक शक्तियां आपको सहायता देंगी। विना

किसी विषय के निर्धारित किये ध्यान स्थिर नहीं रहता और बिना ध्यान के मानसिक शक्तियों का यथार्थ उपयोग नहीं हो सका।

प्रत्येक जहाज का संचालक अपने जहाज को चलाने के प्रथम अपना उद्देश और मार्ग दोनों निश्चित कर लेता है। यदि वह उस मार्ग का चित्र अपने सन्मुख न रखेगा तो निःसंदेह उसका जहाज न किसी स्थान को ही पहुंचेगा वरन समुद्र की लहरों द्वारा बहाया जाकर किसी चट्टान इत्यादिक से टकरा कर नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा। ठीक इसी प्रकार मनुष्य इस संसार-समुद्र में बहता है। जो मनुष्य अपने उद्देश और उसकी प्राप्ति के मार्ग का ज्ञान नहीं प्राप्त करते वे परिस्थिति रूपी तरङ्गों द्वारा बहाये जाकर आपत्तियों से टकराते हुए अकाल में ही प्राण विसर्जन कर देते हैं।

यदि किसी मनुष्य के पास विपुल द्रव्य है और वह बहुत से रुपयों को साथ में रखकर कुछ लेने के लिये निकले वरन यदि वह यह नहीं जाने कि मैं क्या खरीदने जा रहा हूं और कहां से खरीदूंगा। इस प्रकार के मनुष्य धनी होने पर भी कुछ भी नहीं खरीद सकते। वरन् अमूल्य समय का नाश करते हुए अपना उपहास कराते फिरते हैं। जो मनुष्य अपने उद्देश को निश्चित कर लेते हैं वे शीघ्र ही आकर वांछित वस्तु लेकर उसका उपभोग भी करलेते हैं।

परमपिता परमेश्वर ने हम सब को पुरुषार्थरूपी द्रव्य दिया है। उद्देश को निश्चित करें और जो चाहें सो लें।

मानवी जीवन कितना कठिन है, उसमें कितनी कितनी आपत्तियां हैं और कितना क्लेश है, प्रत्येक को इस बात का पूर्ण

अनुभव है। किसी एक का जीवन नहीं वरन् सम्राट् से रंक तक का जीवन निष्कंटक नहीं है। जो चिन्ताएं एक दरिद्री मनुष्य को हैं यद्यपि उन चिन्ताओं से धनी मुक्त रहते हैं वरन् वे भी दूसरी चिन्ताओं से सताये जाते हैं। इस कारण भावी जीवन को उन्नत बनाने के लिए मनुष्य को अपना उद्देश और विधि दोनों निश्चित कर लेनी चाहिये।

प्रारंभ में यद्यपि आपको विधि निश्चित करने में बड़ी कठिनता पड़ेगी वरन् ज्यों ज्यों आप कर्म में आगे बढ़ते जायंगे त्यों त्यों आपका अनुभव बढ़ता जायगा और सरल उपाय सूझने लगेंगे।

पाठ २

अनुकूलता।

इसी परिच्छेद के पाठ एक में बताया जाचुका है कि इच्छा से संकल्प उत्पन्न होता है। इच्छा सदैव अनुकूल पदार्थों से होती है। जो पदार्थ हमसे प्रतिकूल है उसकी प्राप्ति में कभी इच्छा उत्पन्न नहीं होती। संकल्प शक्ति को उन्नत करने के लिये पहिले इच्छा को उन्नत करना चाहिये। इच्छा की शक्ति पाकर ही संकल्प जीवित रहता है।

यह बात हमारे दैनिक अनुभव की है कि जब हम कोई कार्य्य करना चाहते हैं और उस कार्य्य को करने के लिये जब हमारे मन में प्रबल इच्छा उत्पन्न हो जाती है, उस समय माता पिता, तथा अन्य लोगों के रोकने पर भी हम उस कार्य्य के करने के लिये अनेकानेक युक्तियां निकाल लेते हैं और उस कार्य्य को समाप्त करलेते हैं। जब हम किसी को नहीं चाहते

उस समय उस कार्य्य में अनेकानेक विघ्न बतलाते हैं और सरल कार्य को भी अगम कहते हैं।

इच्छा, संकल्प का प्राण है। जिस संकल्प में जितनी इच्छा की शक्ति उन्नत रहती है उतनी ही शक्ति आपत्ति, कष्ट, त्याग और तप के सहन करने के लिये संकल्प में उन्नत होती है। अर्थात् इच्छा, संकल्प में त्याग, तप और आपत्तियों के सहन करने की शक्ति उत्पन्न करती है।

इतिहास इस बात का साक्षी है। वीर सावरकर जिस समय इंग्लेंड में राजद्रोह के मामले में पकड़ा जा चुका था और हिन्दुस्थान को वापिस आते समय जब फ्रैंच सीमा में जहाज चल रहा था उस समय वह वीर यह सोचने लगा कि यदि इस समय मेरे प्राण न बचालिये गये तो अब भावी जीवन में देशभक्ति की कोई आशा नहीं है। इसी इच्छा से उत्तेजित होकर वह समुद्र में गिर पड़ा और प्राण बचाने के लिये तैर कर फ्रैंच सीमा में सामने एक पहाड़ था उस पर चढ़ गया। अपने पीछे अंग्रेज़ सिपाहियों को आते देख फिर वहां से भी भागा। एक अंग्रेज़ी शिक्षा से पले हुए नवयुवक के अन्दर कि जहां विलासिता और स्वास्थ्यहीनता की चरम सीमा तक पहुंचाने के लिये आवश्यकता से भी कहीं अधिक साधन रहते हैं, इस प्रकार का अदम्य उत्साह और इतनी शक्ति का उत्पन्न होना क्या सिद्ध करता है। यदि उस मनुष्य, नहीं देव में देशभक्ति की इतनी उत्कट इच्छा नहीं होती तो क्या उसमें इतनी शक्ति उस समय में आसकती थी, कदापि नहीं।

स्वराज्य प्राप्ति की इच्छा प्रज्वलित होने के कारण ही महात्मा गांधी ने असह्य कष्ट सहे, लाठियों की मार सही और

जेलों की यात्रा सुगम समझी। यदि उनमें इतनी इच्छा नहीं उन्नत होती तो निःसंदेह वह महात्मा इतने कष्ट नहीं सहन कर सकता था।

इच्छा की शक्ति अर्थात् मनुष्य की आवश्यकता बढ़ने के साथ २ उसमें दूसरी शक्तियां भी बढ़ती हैं, इसको सिद्ध करने के लिये असंख्य उदाहरण दिये जा सकते हैं वरन् प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन में इस सिद्धांत का अनुभव कर सकता है और यही अभीष्ट है।

इच्छा शीघ्रगामी है अर्थात् थोड़ी देर में परिवर्तित हो जाती है। अभी हम एक वस्तु को चाहते हैं, थोड़ीसी देर के उपरांत ही हम उसके वलिदान करने में संकोच नहीं करते। एक वालक मिठाई को देखकर उसे खाने की इच्छा प्रकट करता है और यदि उसी समय उसे उसके मित्रों में मिला दिया जाय तो खेलने की इच्छा प्रगट करता है। प्रत्येक मनुष्य इस सिद्धांत का उपयोग करता दिखाई देता है वरन् इसे एक नियम के रूप में समझने वाले बहुत थोड़े हैं। इसका नियम यह है कि जिस समय जो वस्तु हमें अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण करनेवाली प्रतीत हो, कोई असित कष्ट या भावी कष्ट को निवारण करने वाली प्रतीत हो, सदैव उसी कार्य्य में हमारी इच्छाएं परिवर्तित हो जाती हैं। अभी जिस वस्तु की आप इच्छा कर रहे हैं, उस साधन को जो कि उस वस्तु की इच्छा उत्पन्न कर रहा है बदल दीजिये और दूसरी वस्तु जो अनुकूल हो सामने रख दीजिये। पहिले की इच्छा शांत हो जायगी और नई वस्तु की इच्छा उत्पन्न हो जायगी।

एक शराबी मनुष्य की स्त्री अपने पति को जब कभी उसे शराब पीये हुए देख लेती थी, खूब मारा करती थी। एक

समय उस स्त्री ने उसे बहुत मारा और यह कबूल करवा लिया कि अब वह भविष्य में कभी शराब नहीं पीयेगा। दूसरे दिन उस स्त्री को घर के लिये कुछ सामग्री मंगवानी थी। उसे यह विश्वास हो गया था कि अब उसका पति कभी शराब नहीं पीयेगा, क्योंकि उसने रात्रि को कसम खाली थी। उसने यह सोचकर अपने पति को बाज़ार जाने के लिये रुपये दे दिये और कहा कि शराब मत पीना। उस पुरुष ने भी इस बात को स्वीकार कर लिया। रास्ते में वह बड़ी जल्दी जल्दी चलने लगा और शीघ्र सामान देकर अपनी स्त्री को प्रसन्न करने का विचार करने लगा। आगे जाकर उसने अपने एक मित्र को शराब पीये हुये आता हुआ देखा। यह देखकर उसके मुंह में पानी छूटने लगा और उसने कहा कि यद्यपि कल मैं शराब छोड़ने का निश्चय कर चुका हूं वरन् केवल आज तो थोड़ी पीलूं, भविष्य में न पीऊंगा। इस प्रकार विचार करता जा रहा था कि रास्ते में उसे एक दुकान दिखी। वह उस दुकान पर गया और सामान ही खरीदने का निश्चय किया; क्योंकि उसे विचार हुआ कि अगर मैं शराब पीलूंगा तो मेरी स्त्री मुझे बहुत पीटेगी। वरन् उस दुकान पर उसे सामान नहीं मिला और फिर वह आगे चला। इस समय भी उसके विचार शराब के विरोध में और सामग्री के पक्ष में थे। आगे चलकर उसे एक कलाली नजर आई कि जहां उसके बहुतसे पुराने मित्र प्याला उड़ा रहे थे। उसके मन में फिर शराब के पक्ष में विचार उत्पन्न होने लगे। स्त्री के भय से उसने पीछे देखा वरन् उसकी स्त्री उसे जब नहीं दिखी तब उसने बहुतसे विचार करने के उपरांत यह कहा कि मेरी पीठ शराब का विरोध कराती है और मेरा पेट शराब की आज्ञा देता है।

अर्थात् भय शराब से रोकता है और आनंद शराब मांगता

है। अंत में उसने कहा कि क्या मेरा पेट मेरी पीठ से अधिक प्यारा नहीं है और ऐसा कहकर वह दुकान के अंदर चला गया। यदि वह दुकान में जाते समय अपनी स्त्री को हाथ में एक दंड लिये हुये आती देख लेता तो निःसंदेह वह पेट के बदले अपनी पीठ को श्रेयस्कर समझता; एक ही पुरुष को एक ही दिन में स्त्री को देखकर शराब के विरोध में विचार होता है जब शराबी को देखता है तो उसे त्याग के बदले ग्रहण की इच्छा उत्पन्न होती है, दुकान को देखकर सामग्री की इच्छा होती है और फिर शराब देखकर पीने की इच्छा होती है। आशय केवल यह है कि विषयों के बदलने से मनुष्य की इच्छाओं में किस प्रकार परिवर्तन होता है और किस प्रकार इच्छा मन में पैदा होकर विजय का मार्ग निष्कंटक कर लेती है। मार्ग में विघ्न आते हैं, भय उत्पन्न होता है, कष्ट और आपत्तियां आती हैं वरन् इच्छा सभी को नष्ट कर देती है।

इच्छा के अन्दर एक और गुण है और वह यह है कि इच्छा इच्छित पदार्थों का आकर्षण करती है। इच्छा और इच्छित पदार्थ दोनों ही आपस में एक दूसरे को आकर्षण करते हैं। (प्रश्न) यह कहना कि इच्छा और इच्छित पदार्थ आपस में एक दूसरे को आकर्षण करते हैं, मिथ्या है और प्रत्यक्ष अनुभव के विरुद्ध है, क्योंकि यदि यह सिद्धांत सत्य होता तो हम राजा और धनी बनना चाहते हैं वरन् हम तो अभीतक निर्धन हैं। आकर्षण क्रिया तो चुंबक में है कि जो लोहे को तुरंत अपनी ओर खींच लेता है लेकिन इच्छा में हमें ऐसी कोई शक्ति नहीं दिखाई देती। परन्तु पुरुषार्थ से सबकुछ प्राप्त होता है। (उत्तर) आपने कहा कि "चुंबक लोहे को खींच लेता है"। आपके कथनानुसार सिद्ध होता है कि लोहा और चुंबक दोनों ही पहिले

वर्तमान और पृथक् २ थे और आकर्षण शक्ति के होते हुए भी प्रयत्न के न होने के कारण अलग २ रहे हम पुरुषार्थ के सिद्धांत का खंडन नहीं करते, जिस प्रकार लोहा और चुंबक दोनों में एक दूसरे की आकर्षण शक्ति होते हुए भी बिना प्रयत्न के एक दूसरे से पृथक् रहते हैं। ठीक इसी प्रकार ही बिना पुरुषार्थ के इच्छा और इच्छित पदार्थ दोनों में आकर्षण शक्ति के हुये भी पृथक् २ रहते हैं।

मन में जितनी इच्छा उत्कट होगी उतना ही विजय का मार्ग निष्कंटक होगा महात्मा बुद्ध के मन में धर्म की भावना जागृत हो चुकी थी और इसी कारण प्रत्येक रुकावट परास्त हुई और अंत में उसकी इच्छा फलीभूत हुई। परिस्थिति मनुष्य के अनुकूल नहीं उत्पन्न होती वरन् मनुष्य परिस्थिति को अपने अनुकूल बना सकता है।

जिस प्रकार एक क्षुधा से पीड़ित व्यक्ति रमणीय उद्यान में फिरना नहीं चाहता वरन् अपनी क्षुधा को शांत करने की उत्कट इच्छा रखता है, बिना अपनी इच्छा की पूर्ति हुये विश्राम लेने को तैयार नहीं, जिस प्रकार मृगतृष्णा की आशा में थका हुआ मृग केवल जल के और कुछ नहीं चाहता, जिस प्रकार विरह से वियोगित स्त्री अपने प्रियतम को ही चाहती है अन्य कुछ भी नहीं, ठीक इतनी ही तीव्र इच्छा मनुष्य को अपने अंदर उत्पन्न करना चाहिये। इस प्रकार की इच्छा उत्पन्न करने पर मनुष्य प्रत्येक वस्तु प्राप्त कर सक्ता है। भगवान् दयानन्द, वीर नेपोलियन इत्यादि महान् आत्माओं के जीवनचरित्र देखने से मालूम होता है कि इन्होंने जो कुछ भी किया है उसके लिये इनके अंदर प्रथम इतनी ही उत्कट इच्छा उत्पन्न हो चुकी थी;

और इतनी इच्छा के उत्पन्न होने के कारण ही इन महापुरुषों ने कठिन से कठिन कार्य्य से मुंह नहीं मोड़ा अपि तु विजय प्राप्त की।

तीव्र इच्छा और उसके विषय में इतनी आकर्षण शक्ति है कि चित्त बिना विचार के प्रयत्न करता है और फल प्राप्त हो जाता है। साधारण जन इस क्रिया की गति को न समझने के कारण अनेकानेक काल्पनिक बातें अपनी इच्छा की पूर्ति में साधन समझते हैं। कोई कहता है कि यह वस्तु जो मुझे प्राप्त हुई है और जिसकी मैं बहुत इच्छा करता था, अकस्मात् मिली है, कोई भाग्य को इसकी प्राप्ति का कारण मानता है, कोई गुप्त शक्तियों का मनघड़ंत विचार कर कहता है कि किसी देव, भूत, पिशाच, चुड़ेल या किसी और अन्य शक्ति की कृपा का परिणाम है।

इच्छा—शक्ति और उसके नियमों का विवेचन इतना विस्तृत है कि इस विषय पर बहुत कुछ लिखा जा सकता है, इस कारण इसका विचार "इच्छाशक्ति" नाम की अन्य पुस्तक में किया गया है। इच्छुक महोदय इसका पूर्ण विवरण उसमें देखलें। इस पाठ में केवल इतना बतलाया गया है कि संकल्प को अपना कार्य्य पूर्ण करने के लिये दृढ़ेच्छा की अत्यन्त आवश्यकता है।

पाठ ३

दृढ़ता

हम अथर्ववेद का एक मंत्र प्रथम परिच्छेद के द्वितीय पाठ में उद्धृत कर आये हैं और उसमें लिखा है कि हमारी

संकल्प-शक्ति केवली हो अर्थात् अकेली हो, एक हो। हम यह भली भांति जानते हैं कि एक नदी जो कि एक ही मार्ग से प्रवाहित हो रही हो, उसमें अधिक शक्ति रहती है। यदि वही नदी अनेक मार्गों में प्रवाहित करदी जाय तो निःसंदेह उसका प्रत्येक मार्ग कमजोर हो जायगा। ठीक इसी प्रकार संकल्प-शक्ति के लिये वेद कहता है कि एक समय में संकल्प-शक्ति को एक ओर ही प्रवाहित करो।

एक कार्य को प्रारम्भ करना, उसको पूर्ण करने के लिये अपनी सब शक्तियों को लगा देना, विजय प्राप्त होने तक आपत्तियों का कुछ भी विचार न कर, उत्साह से उस कार्य्य को करने का नाम दृढ़ता है। दृढ़ता के लिये वेद ने कहा है कि वह दृढ़ता केवली हो। एक समय में अनेक कामों को हाथ में ले लेना असफलता का कारण है। इसलिये प्रत्येक मनुष्य को किसी काम में दृढ़ता रखने के प्रथम उसे केवली कर लेना चाहिये।

केवली का प्रयत्न तुलनात्मक विचार कहाता है। मन में कई इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं। प्रत्येक इच्छा अपने साथ न्यूनाधिक अंश में अनुकूल एवं सुखद भावों को लिये हुये होती हैं। उनमें से बहुतेक एक दूसरे के प्रतिकूल होती हैं। भिन्न भिन्न समय में अनेक कारणों से इच्छाओं की प्रधानता में भिन्नता आजाती है, जबतक जिस इच्छा की प्रधानता रहती है तबतक उसके अनुकूल कार्य्यों में प्रवृत्ति रहती है, परन्तु किसी कारण से जब प्रधानता नष्ट हो जाती है तो प्रवृत्ति के स्थान पर निवृत्ति हो जाती है। इस कारण फल प्राप्त होने के प्रथम ही हम कार्य्य छोड़ देते हैं।

एक पंडित जो कि भाषा के सुप्रसिद्ध लेखक थे, एक समय नाटक देखने के लिये गये। नाटक अति उत्तम रीति से खेला गया था और सब लोग मुग्ध हो नाटक खेलनेवालों की ओर विशेषतया उसके लेखक की मुक्तकंठ से प्रशंसा करते थे। पंडितजी उस प्रशंसा को सुनकर मन ही मन कहने लगे कि यदि मैं अपनी योग्यता का उपयोग किसी नाटक के लिखने में करता तो निःसंदेह मेरी भी प्रशंसा लोग करते और मुझे बड़ी सन्मान की दृष्टि से देखते । उस प्रशंसा को सुनकर उनके हृदय में अदम्य उत्साह उत्पन्न हो आया और उन्होंने वहीं एक नाटक लिखने की प्रतिज्ञा की। जब वहां से वे लौटकर घर आये तब रातभर उन्होंने नाटक को किस प्रकार लिखने, नाट्यरसों के विचार और कौनसा नाटक लिखने इत्यादि के विचार में रात्रि व्यतीत की और प्रातःकाल उठते ही उन्होंने नाटक का प्रथमांक लिखना प्रारंभ कर दिया। दो चार दिन में उनका यह उत्साह शिथिल होगया तथापि उन्होंने लिखना बन्द नहीं किया, वे बराबर लिखते रहे। कुछ दिनों के पश्चात् जब कि उनका प्रथमांक भी समाप्त न हो पाया था कि उनको एक सभा में जाना पड़ा। वहां कई ओजस्वी भाषा में व्याख्यानदाता आये थे। सभा का उद्देश था "विधवा-विवाह-प्रचार" करुणाजनक विधवाओं के विषय में प्रभावशाली व्याख्यान सुनकर पंडितजी के हृदय में दया उपज आई और पंडित महोदय ने विधवाओं का कष्ट निवृत्त करने का निश्चय किया। उस विषय पर अनेकानेक लेख लिखने, पुस्तक प्रकाशित करने इत्यादि कार्य्य प्रारंभ किये कि जिनसे प्रचार का काम भलीभांति हो सके। पंडित महोदय ने अब अपना समय विधवा-विवाह प्रचार के कार्य्य में लगाना प्रारंभ किया।

कुछ दिनों के पश्चात् पंडित महोदय ने एक सूचना पढ़ी और उसमें शुद्धि-महासभा के अधिवेशन का समाचार सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। शहर में नई नई तैयारियां हो रही थीं। जहां देखो वहां महासभा में चलने के विचार सुनाई देते थे। विद्वान् लोग व्याख्यान और पुस्तकों की रचना का प्रबन्ध कर रहे थे। हमारे पंडितजी भी मन में नई नई पुस्तकों की रचना का विचार करने लगे।

उक्त पंडितजी के सदृश कई मनुष्य इस संसार में हैं जो कि वायु की गति सूचित करनेवाले यंत्र के समान अपने विचारों में परिवर्तन किया करते हैं।

निःसंदेह पंडितजी ने पुरुषार्थ किया परन्तु सब निष्फल हुआ। सिवाय समय के ह्रास और शक्ति की दुर्गति के परिणाम कुछ भी नहीं हुआ। पंडितजी ने अपने जीवन के लिये कोई प्रतिमा निश्चित न की थी और न कोई उनका निश्चित उद्देश ही अपने जीवन के लिये था और इसी कारण उनके विचारों में इतनी अदृढ़ता रही।

हम प्रतिमा के विषय में तृतीय परिच्छेद में लिखेंगे और उसके प्रथम हम तुलनात्मक विचार और दृढ़ता के विषय में कुछ लिखना चाहते हैं।

मनुष्य जबतक तुलनात्मक विचार का आश्रय नहीं लेता तबतक सत्य और असत्य, भले और बुरे का निश्चय नहीं कर सकता। तुलनात्मक विचार से ही मनुष्य सरल और सत्यमार्ग का अनुसरण कर सकता है। तुलनात्मक विचार के बिना दृढ़ता नहीं हो सकती और यदि वह निश्चित सी की गई तथापि अस्थिर रहजाती है।

आज एक मार्ग का अनुसरण किया है कल दूसरा मार्ग उससे सरल और अधिक आनन्दप्रद प्रतीत हुआ कि हमने उसे आज ही छोड़ दिया। इस कारण तुलनात्मक विचार का अभाव मन में ग्रहण और त्याग का एक व्यापार उत्पन्न कर देता है कि जिस कारण लाभ के बनिस्बत हानि पहुंचती और व्यापारी सदा नुक़सान में रहता है। इसलिये दृढ़ता के प्रथम, विचारों की तुलना को प्रथम स्थान दीजिये।

तुलना दो या दो से अधिक पदार्थों या विचारों के होने पर हो सकती है। यावत् दो पदार्थों के किसी न किसी गुण की समानता नहीं होती तावत् तुलना नहीं की जा सकती।

तुलनामूलक विचार में मनुष्य को तर्क, बुद्धि एवं पूर्व अनुभव का उपयोग अवश्य करना चाहिये। तुलनात्मक विचार में औरों के विचार या व्यवहार को देख या सुनकर किसी निश्चय पर पहुंचना महा हानिकारक है।

तर्क का नाम सुनकर कई लोग घबरा उठते हैं। परन्तु तर्क से बहुत सहायता मिलती है। किसी सिद्धान्त की पुष्टि करना और पुष्ट किये हुए सिद्धान्त पर दृढ़ता और विश्वास रखवाना तर्क का ही कार्य्य है। जो व्यक्ति तर्क की प्रतिष्ठा को नहीं समझते और उसकी सहायता नहीं लेते वे अंधश्रद्धालु होते हैं और श्रद्धा के वास्तविक सिद्धान्त को न समझकर उसका उपयोग कदापि नहीं कर सकते।

इस कारण तर्क का जहां उपयोग होता है वहां संकल्प-कि की दृढ़ता करने में वह तर्क मन में स्मृति, अनुमान तथा अन्य शक्तियों को जागृत कर अपने सिद्धांत की पुष्टि में उपयोग

कराताहै। कभी २ आपको बहुधा ऐसे विचार उत्पन्न होंगे कि जिससे आपके मन में असमंजस के विचार उत्पन्न होवें और आप कहेंगे कि मैं यह काम करूं या नहीं करूं, करना तो चाहिये वरन् संभवतः इसके परिणाम में अनिच्छित पदार्थ की प्राप्ति हो जावे। जिन पदार्थों से मैं डरा करता हूं, उनकी प्राप्ति तो मुझे न हो जावे। केवल तर्क ही इस संशय का यथावत् समाधान कर तुलनात्मक विचार की क्रिया पूर्ण कर सकता है।

एक कार्य्य को एक मनुष्य अभी अच्छा समझता है परन्तु थोड़ी देर के उपरांत ही उसे बुरा कहने लगता है। इसका कारण यह है कि भिन्न २ समय में उसके बुराई और भलाई के पहिचानने के साधन भिन्न २ थे। पहिले साधन जिनसे भले और बुरे की पहिचान की जाती है और जिन्हें हम प्रतिमा कहते हैं निश्चित किये जाते हैं और उनसे तौल कर मनुष्य अच्छे और बुरे का निर्णय करता है। बिना प्रतिमा के तुलनात्मक विचार नहीं हो सकता अतएव इसका विशेष विवरण हम अगले परिच्छेद में करेंगे।

तृतीय परिच्छेद

पाठ १

प्रतिमा ।

पिछले परिच्छेद में एक पंडित का उदाहरण दिया था उससे आप समझ गये होंगे कि पंडितजी की असफलता का मुख्य कारण उनके विचारों में दृढ़ता का अभाव ही था । पण्डितजी की प्रतिमा, कि जिनसे वे अपने कर्तव्याकर्तव्य का निश्चय करते थे, समय समय पर बदल जाया करती थी और यही कारण था कि वे एक भी काम को पूर्ण नहीं कर सके ।

यदि एक मनुष्य नदी में तैरता हो और वह अपने जाने का न कोई स्थान और न कोई मार्ग ही निश्चित करे वरन नदी के प्रवाह की ओर ही तैरता जाय, जिस ओर नदी का प्रवाह बदले उसी ओर वह भी फिर जाये तो क्या आप अनुमान कर सकते हैं कि वह किसी स्थान को पहुंच सकेगा किंचित् नहीं, वरन वह अल्पकाल में ही थक जायेगा और संभवतः शीघ्र ही अपना प्राणांत संस्कार करदेगा ।

संसाररूपी यह एक नदी है यदि इसमें हमने पैर रखकर अपना कोई निश्चित मार्ग नहीं सोचा वरन् परिस्थिति के प्रवाह से बहाये गये तो निःसंदेह ही जीवन महान् कष्टमय हो जायेगा और हम अपनी इच्छा के अनुसार कोई भी काम नहीं कर सकेंगे ।

आपको अपने जीवन में कई समय ऐसा हो चुका होगा

कि आप अपने मन में एक कार्य्य को करने की इच्छा प्रकट करते हैं फिर उसे त्याग करने की सम्मति देते हैं, बहुधा कहते हैं कि एक मन तो मेरा इस कार्य्य को करने की आज्ञा देता है और दूसरा त्याग करने की, मैं इस कार्य्य को करूं या नहीं, बड़ी दुविधा में पड़ा हूं, क्या करूं, कैसे करूं इत्यादि अनेकानेक एक दूसरे के विरुद्ध और हतोत्साहित करने वाले संकल्प विकल्प उत्पन्न होते हैं।

यद्यपि इस प्रकार के विचार बहुतायत से हुआ करते हैं, इनका ठीक प्रकार समाधान कर उचित निर्णय पर पहुंचना बहुत कम व्यक्तियों का काम है। मानसिक क्षेत्र में इच्छाओं के परस्पर युद्ध होते हैं और इस संग्राम पर विजय प्राप्त करना उन्हीं मनुष्यों का कार्य है जो परिस्थिति के स्वामी हैं या जो स्वामी बनने की दृढ़ेच्छा रखते हैं। परिस्थिति के गुलाम शत्रु पर विजय प्राप्त कर स्वतंत्रता एवं सफलता के आनंद से सदा वंचित रहते हैं और वे भीरु मृत्यु के पहिले ही प्राण विसर्जन कर देते हैं।

वेद कहता है कि "[1]अदीनाः स्याम शरदः शतं, अ-[2]जिताः स्याम शरदः शतम्" अर्थात् हम आयुष्य भर स्वतंत्र और स्वाधीन बनकर रहें, सर्वत्र हम विजय को प्राप्त करें, शत्रुओं से हमारा बल बढ़ाकर सदा विजयी होवें।

इच्छा युद्ध का अन्त करने के लिये प्रतिमा ही उत्तम शस्त्र है। परस्पर एक दूसरे के विरुद्ध इच्छाएं प्रतिमा के साधन से शांत की जा सकती हैं। अनेक इच्छाओं की एक इच्छा बनाकर सारी शक्ति उसी ओर प्रवाहित की जा सकती है।

---

(१) यजु० ३६। २४॥ (२) तैत्ति० आर० ४। ४२। ५॥

विचार शक्ति और प्रतिमा से रहित पुरुषों में जब कभी एक दूसरे के विरुद्ध इच्छाएं होती हैं तो उनपर ठीक विचार न कर सकने के कारण वह किसी निर्णय को नहीं पहुंच सकते। वे "करूं या नहीं करूं" के फेर में ही पड़े हुए इधर उधर गोते खाया करते हैं फलतः वे किसी परिणाम को न पहुंच कर अशांत हो जीवन व्यतीत करते हैं।

संसार ऐसे व्यक्तियों से भरा हुआ है कि जो कार्य्य दूसरा प्रारंभ करे उसे आप भी विना विचारे शुरू करदे वह इसलिये नहीं कि वे उसे अपना कर्तव्य समझते हैं वरन् दूसरों का अनुकरण करना ही उनकी आदत हुआ करती है। प्रत्येक व्यक्ति कर्म करने में स्वतंत्र है वरन् ये उस स्वतंत्रता का उपयोग करना नहीं जानते। इस कारण प्रत्येक मनुष्य को निष्पक्षपात और स्वतंत्रता से प्रतिमा निश्चित कर अपने लिये कर्तव्य और अकर्तव्य निश्चित करना चाहिये।

आपको ज्ञात है कि तोल के साधन (प्रतिमा) निश्चित होने के विना कोई "कम तोला या अधिक तोला गया" ऐसा नहीं कह सकता क्योंकि निर्णय करने का कोई साधन निश्चित नहीं है। जबतक कोई वस्तु अच्छी न समझली जाय तबतक कोई वस्तु बुरी नहीं कही जा सकती। न्यायाधीश के सम्मुख न्याय और अन्याय के जांचने निमित्त नियम निश्चित होते हैं तब ही वह एक निर्णय कर सकता है। एक विद्यार्थी ने एक भिन्न हल की हो वरन जबतक उसका उत्तर निश्चित नहीं करलिया जावे तबतक उसे कोई गलती या सही नहीं कह सकता। अर्थात् जबतक प्रतिमा याने तोलने का साधन निश्चित न कर लिया जाय तबतक छोटे या बड़े गुणवान् या दोषयुक्त, भला या बुरा नहीं कहा जा सकता।

इस कारण प्रत्येक मनुष्य को अपनी प्रतिमा प्रथम निश्चय कर लेना चाहिये इसके बिना कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान नहीं हो सकता और यावत् ज्ञान यथार्थ न होगा तावत् कर्म ठीक नहीं हो सकता और कर्म के विधिपूर्वक न होने से सफलता नहीं प्राप्त हो सकती।

भिन्न भिन्न मनुष्यों की भिन्न भिन्न प्रतिमाएं हो सकती हैं। जिस प्रकार एक सच्चा वैदिकधर्मी अपने आचार और विचार के तोलने अर्थात् उनको भले और बुरे कहने या ठहराने का साधन वेद समझता है। वेदप्रतिपादित सिद्धान्तों के अनुकूल व्यवहार और विचारों को भला और उसमें (वेद में) निषिद्ध कर्मों को बुरा समझता है। जिस प्रकार राम का सच्चा भक्त अपने व्यवहारों की तुलना राम के किये हुये कामों से करता है और उन्हीं कर्मों को और उनकी आज्ञाओं को भलाई और बुराई जांचने का साधन समझता है, जिस प्रकार एक सच्चा मुसलमान क़ुरान की आयतों में प्रतिपादित कर्मों को ठीक और उनके विरुद्ध कर्मों को निषिद्ध ठहराता है, ठीक इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य को अपने व्यवहार और विचारों को ठीक पहिचानने के लिये अपनी अपनी प्रतिमा निश्चित कर लेनी चाहिये।

हम न तो किसी वेद की ऋचा और न कोई आयत को अपनी प्रतिमा मानने के लिये कहेंगे वरन् प्रत्येक मनुष्य को इस कार्य में सब प्रकार के बन्धनों को चाहे वे धार्मिक हों या सामाजिक, थोड़ी देर के लिये मुक्त होकर स्वतन्त्रता से विचार करना चाहिये। स्मरण रखिये इस प्रकार स्वतन्त्रता और निर्भयता से विचार नहीं करने से आप और किसी से नहीं

वरन् अपनी आत्मा के साथ विश्वासघात करेंगे। यह कार्य्य आपका है और आपही को विना किसी की सहायता के निश्चय करना चाहिये।

हम महापुरुषों के वाक्यों को प्रतिमा निश्चित करने के लिये विरोध नहीं करते और न हमारी वतलाई हुई प्रतिमा का आग्रह करते हैं वरन् स्वतन्त्र और निर्भीक विचार पर जोर देते हैं।

भगवान् दयानन्द ने अपनी प्रतिमा वेदों को निश्चित की थी, अपने विचार और कर्म को वेदों से मिलाते थे और वेदानुकूल आचरणों को विहित और वेदविरुद्ध को निषिद्ध वतलाते थे।

महात्मा गांधी और नेपोलियन की प्रतिमा स्वतन्त्रता थी। एक की आशा देश को स्वतन्त्र वनाने की है और दूसरे की अपने आप स्वतन्त्र वनने की थी।

प्रातःस्मरणीय राम और कृष्ण की प्रतिमा धर्म थी। और उनके ऊपर असह्य आपत्ति से युक्त कार्य आये वरन् उन्होंने अपनी प्रतिमा को नहीं छोड़ा।

भिन्न भिन्न महात्माओं की भिन्न भिन्न प्रतिमाएं हमने उपर्युक्त वर्णित की हैं वरन् हमारा उद्देश्य उनमें से किसी एक अथवा सव का आपकी प्रतिमा वनाने का नहीं है। प्रतिमा किसी दूसरे पुरुष की कही हुई इतनी लाभदायी नहीं होती जितनी कि वह होगी जो आप स्वयं स्थिर करेंगे। उपर्युक्त वर्णित प्रतिमाओं में न कोई गुप्त शक्ति है और न किसी तरह का जादू जो आपकी निर्मित प्रतिमा में न हो। आप चाहें तो उनमें से एक पसन्द करलें या स्वयमेव अन्य कोई निश्चित करें।

अपने निश्चित संकल्प से पतित करने लगेगी वरन् ठीक उसी समय में यह प्रतिमा सच्चे मित्र का कार्य करेगी।

यह प्रतिमा आपके आदर्श का परिचय देती हुई प्रलोभनों का नाश करेगी, जो अन्यथा समय पाकर शक्तिशाली मनुष्यों को भी पतित कर देते हैं।

किसी कार्य को करने या न करने तथा ग्रहण या त्याग करने के विचार में जहां साधारण मनुष्य कई दिन और कई महीने व्यतीत कर देते हैं वहां प्रतिमा का निश्चित किया हुआ व्यक्ति एक मिनिट में अपना निश्चय कर सकता है। जिस प्रकार जहाज का निपुण संचालक अपने जहाज को चलाने के समय अपने सन्मुख मार्ग का चित्र रखते हुए जहाज को सुरक्षित पार कर सकता है ठीक इसी प्रकार मानव जीवन में आपको कठिनाइयां, आपत्ति और प्रलोभनों से टक्कर खाकर निरुत्साहित बना क्लेशमय अवसरों से बचाकर यह प्रतिमा सफल जीवन बनावेगी।

अपनी प्रतिमा को, भले ही वह कौनसी भी क्यों न हो, कभी भी भूलना नहीं चाहिये और चाहे कैसी भी आपत्ति आवे उसे नहीं छोड़ना चाहिये। आप उस प्रतिमा पर दृढ़ विश्वास रखिये और इतनी श्रद्धा और भक्ति रखिये कि उससे विरुद्ध कोई भी काम या मनुष्य से जो आपको अपनी प्रतिमा से पतित करने का प्रयत्न करे, अत्यन्त क्रोधित हो जावे।

निःसन्देह प्रतिमा का निश्चय करना जितना सरल है उतना उसको कार्यरूप में परिणत करना सरल नहीं है। एक कागज़ और पेंसिल लेकर अपने फुरसत के समय में कोई भी

मनुष्य थोड़ासा विचार कर प्रतिमा को निश्चित कर सकता है और बहुतसे मनुष्य इसी निश्चय से ही अपने पुरुषार्थ की इतिश्री समझ कर फल ढूंढते हैं वरन् इससे लाभ के बदले हानि ही सहनी पड़ती है। प्रतिमा का निश्चय फल नहीं प्राप्त करा सकता वरन् उसका अनुशीलन वांछित फल दे सकता है।

इस कार्य्य को सुगम बनाने के लिये हम अपने पाठकों से निवेदन करते हैं कि यदि आपने कोई प्रतिमा निश्चित करली है और उसके अनुसार कार्य्य करना कठिन प्रतीत होता हो तो उसे छोड़े नहीं वरन् जिस प्रकार आपने शुभ कर्मों की तुलना करने निमित्त यह प्रतिमा निश्चित की है ठीक इसी प्रकार बुरे कार्यों की परीक्षा करने निमित्त एक और प्रतिमा निश्चित कीजिये। यदि हम पहिली प्रतिमा को ग्रहण प्रतिमा के नाम से कहें और दूसरी को जो अभी निश्चित की है, त्याज्य प्रतिमा कहें तो ग्रहण प्रतिमा एक और आपके उच्च आदर्श और उन कर्मों को कि जिनका अनुसरण करना चाहते हैं सूचित करेगी, तो दूसरी और त्याज्य प्रतिमा उन आदर्शों को तथा कार्यों को सूचित करेगी कि जिन्हें आप सर्वदा घृणा की दृष्टि से देखते हैं। जैसे यदि आपने ऋषिप्रणीत प्रतिमा अभ्युदय एवं निश्रेयस को निश्चित की है और यदि उसे अपनी ग्रहण प्रतिमा मानते हैं तो अन्-अभ्युदय और अनिश्रेयस आपकी त्याज्य प्रतिमा होगी। उन्नति के बदलें अवनति, नाश, अधोगति और शक्तियों की संकुचितता अन-भ्युदय और अनिश्रेयस कहाती हैं।

प्रत्येक कार्य्य को करने के पहिले उसकी तुलना प्रथम अपनी प्रतिमाओं से करनी चाहिये, और पूछना चाहिये कि

क्या यह कार्य्य अभ्युदय और निश्रेयस को प्राप्त कर सक्ता है ? यदि उत्तर संतोषजनक मिले तो उसे अपना कर्त्तव्य समझकर आरंभ कर देना चाहिये और यदि उत्तर "नहीं" में मिले तो फिर त्याज्य प्रतिमा को लेकर पूछना चाहिये कि क्या यह कार्य्य अनभ्युदय और अनिश्रेयस प्राप्त करा सकता है ? यदि उत्तर संतोषजनक "हां" में मिले तो उस कार्य्य का सदा त्याग कर देना चाहिये क्योंकि उससे आपका नाश और अवनति होगी।

जिस प्रकार कम या अधिक की जांच करने के लिये एक सब से बड़ा और एक सब से छोटा बाट होता है और इनके बीच और भी कई बाट रहते हैं और वे अपने क्रमानुसार संख्या पाते हैं ठीक इसी प्रकार आप भी एक कागज़ पर ऊपर अपनी ग्रहण प्रतिमा लिख लीजिये और सब के नीचे त्याज्य प्रतिमा; और इन दोनों के बीच में आप भी अपनी बुद्धि और तर्क के अनुसार और दूसरी प्रतिमाएँ निश्चित कर उनकी योग्यतानुसार क्रम से लिखिये। शुभकर्म में प्रवृत्त करनेवाली प्रतिमाएं ऊपर और अशुभ कर्म से निवृत्त करनेवाली प्रतिमाएं अपनी योग्यतानुसार नीचे लिखिये।

सब से प्रथम नीचे की प्रतिमा से कार्य्यारम्भ कीजिये और उत्तरोत्तर उन्नति करते जाइये। ये सब प्रतिमाएं आपको कंठस्थ होनी चाहियें कि जिससे आप इन्हीं का उपयोग सर्वत्र कर सकें।

प्रलोभन के वशीभूत हो, या किसी के खंडन किये जाने पर या किसी के विरुद्ध मत को सुनकर या और किसी किये गये प्रयत्न से कभी भी अपनी प्रतिमा में परिवर्तन नहीं करना चाहिये। इस प्रतिमा में आप इतना प्रेम, श्रद्धा एवं दृढ़ता

रखिये कि आप इसे कभी भी नहीं छोड़ें, जबतक कि आप स्वयं ही एकांत और स्वतन्त्र विचार द्वारा अपनी बुद्धि से उसमें शोध करना योग्य न समझें।

हम किसी अन्य पुस्तक में इसका विवेचन लिखेंगे कि तीव्र बुद्धि भी सदा न्याय नहीं करती और न इच्छा ही सर्वदा हितकर पदार्थों की प्राप्ति में होती है। इस कारण, लोग बुरे कहते हैं या जनता इस सिद्धांत को घृणा की दृष्टि से देखती है या स्वार्थवश होकर अपनी प्रतिमा का उल्लंघन करना अच्छा नहीं।

जो कुछ भी हमने ऊपर वर्णन किया है उस सिद्धान्त के आविष्कर्ता न हम हैं और न इसका गौरव आधुनिक जगत् के किसी पुरुष को दिया जा सकता है, वरन् ये सिद्धांत बहुत पुराने हैं और ऋषियों की सूक्ष्म बुद्धि का परिचय दे रहे हैं। पूर्वकाल के इतिहास से ज्ञात होता है कि इस सिद्धांत का प्रचार उस समय में अधिक था और मनोविज्ञान, शिक्षा का मुख्य अंग समझा जाता था और यही कारण है कि यद्यपि इसका प्रचार उसकी वास्तविक दशा में नहीं है तथापि उसकी परिवर्तित दशा में अवश्य है।

यह एक सर्वमान्य नियम है कि प्रत्येक नियम की वह दशा जो उसके निर्माणकर्ता के काल में रहती है, उसकी मृत्यु के पश्चात् नहीं रहती। काल के साथ साथ उस नियम में भी परिवर्तन हो जाता है। इतिहास इसका साक्षी है।

ऋषियों ने प्रतिमा का महत्व बतलाया, इसकी शिक्षा का प्रचार किया, इसकी पूर्ति के लिये त्याग और तप आवश्यकीय बतलाया यहां तक कि प्रतिमा के लिये सर्वस्व बलिदान देने

को कहा। शिक्षा-प्रणाली भी इसी प्रकार रक्खी जाती थी कि ये भाव जनता में जागृत और प्रबल हो जाते थे। धन्य है उनकी शिक्षा-प्रणाली को कि यद्यपि इतना काल व्यतीत हो चुका है और उनके सिद्धान्तों का प्रचार बिलकुल नहीं है तथापि आज भी उन ऋषियों की संतान में अपनी प्रतिमा को निभाने की शक्ति अवश्य है। हम कह सकते हैं कि हमारी और ऋषियों की प्रतिमा में अन्तर हो गया है। जो प्रतिमा उनकी थी वह निःसन्देह हमारी नहीं है तथापि प्रतिमा में दृढ़ता और उसको कार्यपरिणत करने की शक्ति में उतना परिवर्तन नहीं हुआ है कि जिसे हम " नहीं " कह सकें।

कई लोगों को इसमें सन्देह है वरन् देखिये प्राचीन काल के राजा लोग अपनी प्रजा के हित में अपना हित समझते थे। राजा दशरथ को रामचन्द्र के राज्याभिषेक करने की तीव्र इच्छा होने पर भी अपने सिद्धान्त के अनुकूल प्रजाजनों को बुलाकर उनसे परामर्श ली। महाराजा रामचन्द्र ने अपनी प्रजा को प्रसन्न करने के लिये अपनी स्त्री तक का त्याग कर दिया और अपनी प्रतिमा को निबाही। आधुनिक काल के राजा अपने हित में प्रजा का हित समझते हैं और अपनी इस प्रतिमा को निभाने के लिये भरसक प्रयत्न करते हैं और रास्ते में चाहे कितनी भी आपत्ति आवे सबको सहन करते हैं। यह हमारा प्रत्येक का अनुभव है। दोनों राजाओं में भेद है तो केवल प्रतिमा का, कार्यपरिणतता का नहीं।

महाराजा रामचन्द्र ने रावण को मारने के लिये प्रत्येक उचित उपाय सोचे केवल उस के दुष्ट स्वभाव और स्त्रीजाति का मान रखने के लिये। आज हमें भी देश में असंख्य उदाहरण मिलते हैं कि जहां एक भाई अपने भाई का खून करने

के लिये प्रत्येक अनुचित उपाय सोचता है केवल उसके भाई होने के कारण और अपना मान रखने के लिये । यदि और कोई दुश्मन हमें लूट भी लेजाय या अन्य कोई अत्याचार कर जाय तो हम स्वतः ही उससे क्षमा याचना कर लेंगे दोनों के कार्य्य में कष्ट है, त्याग बुद्धि है, परिश्रम है वरन् यदि अन्तर है तो केवल प्रतिमा का। एक ने अपने देश की रक्षा के लिये दुश्मन से युद्ध किया तो दूसरे ने अपने मान के लिये गृहयुद्ध किया। वरन् त्याग और तप का अभ्यास (न्यूनाधिक अंश में) अवश्य है।

आदर्श चरित्र वाले भरत ने निर्दोष होते हुये भी रामचंद्र के चरणकमलों में प्रीति रखकर अपना भ्रातृधर्म निवाहा। लक्ष्मण ने चित्रकूट पर्वत पर भरत मिलाप के समय भरत का हनन करने में कोई पाप न बताकर रामचंद्र से उस कार्य्य के लिये आज्ञा मांगी। महाराजा रामचंद्र ने भी वनवास से लौटते समय हनूमान् से कहा था कि तुम जाकर भरत की अवस्था पर विचार करना। अयोध्या के लोगों ने उसे कटु शब्द कहकर अनेक वार धिक्कारा और वनवास के भयानक षड्यंत्र का मुख्य कर्ता समझा वरन् उस विमल हृदय ने सब कुछ सहकर अपना धर्म निवाहा। उसमें सहनशीलता और धर्मपरायणता ही अधिक थीं। आज भी इन शक्तियों से युक्त पुरुषों की कमी नहीं है। एक अछूत चाहे हमसे उत्तम प्रकार रहे, परमेश्वर की भक्ति करे, मांस, मदिरा का सेवन चाहे न करे, हमारे ऊपर चाहे कितना भी उपकार करे, चाहे वह भले ही तड़फ तड़फ कर मरजाये वरन् हमारा हृदय कभी टस से मस न होगा। हमारी क्या अवस्था है, देश की क्या हालत है, विधर्मियों द्वारा हमारे माता और पिता की क्या दशा हो रही है वरन् हमारे धर्म का त्याग करना महापाप है चाहे सर्वनाश ही क्यों न हो

जावे। देखिये, कितनी दृढ़ता और धर्मपरायणता है। हमें तो दोनों में समान शक्ति दृष्टिगोचर होती है। हम हमारी समझ से हिन्दुओं को कमजोर नहीं कहते वरन् हिन्दुओं के आदर्श को दुर्बल कहेंगे। किसी महात्मा ने कहा है कि उपदेश से आदर्श अधिक प्रभावोत्पादक होता है। हिन्दुओं के आदर्श के साथ साथ उनकी प्रतिमाएं भी कमजोर हैं कि जिनके कारण उन्हें कर्तव्याकर्तव्य भेद नहीं ज्ञात होता।

हम आर्य्यसमाज और हिन्दू-समाज की ओर जब विचार फैलाते हैं तो हमें इस सिद्धांत का रहस्य और भी खुल जाता है। आर्य्यसमाज में जीवन है, उत्साह है, कार्य्य करने की रुचि है और संगठन है परन्तु हिन्दू-समाज इतना विशाल होते हुए भी निर्जीव है। जब आर्य्यसमाज में सब लोग हिन्दू-समाज के ही हैं तो फिर क्या कारण है कि दोनों में इतना भेद है। महर्षि दयानन्द ने इस सिद्धांत को अच्छी तरह समझ लिया था और इसी कारण उसने सब से प्रथम आर्य्यसमाज का आदर्श और प्रतिमा बदली।

हम हिन्दू-समाज को कमजोर नहीं कह सकते वरन् उसका आदर्श शिथिल है। यदि हिन्दू-समाज बलहीन होती तो गुरु गोविंदसिंह पंजाब में उस भयंकर समय में हिन्दू-राज्य की स्थापना नहीं कर सकते थे, वीर शिवाजी औरंगजेब सदृश एक योग्य मुग़ल सम्राट् को परास्त नहीं कर सकता था।

हमारा विषय इस पुस्तक में हिन्दू-समाज पर प्रकाश डालना नहीं है वरन् हमारा यह अभिप्राय था कि किस प्रकार उद्देश के निश्चित करने से व्यक्ति और समाज में एक नवीन शक्ति और उत्साह उत्पन्न होता है कि जिसकी सहायता से कठिन

ही सेना का काम कर सकेगी। उस सेना से देश की रक्षा नहीं हो सकती क्योंकि उसमें आपके शत्रु भी आकर रहेंगे, छोटे बच्चे जो कि केवल भाररूप होंगे वे भी आकर उसमें मिल जायेंगे और परिणाम यह होगा कि रक्षा के बदले वह सेना नाश का कार्य करेगी। ठीक इसी प्रकार यदि इच्छाओं के लिये भी कोई नियम नहीं रक्खा जायगा तो वे भी कल्याण करने के बनिस्बत नाश करेंगी।

यदि देश का प्रबन्ध आपके हाथ में दे दिया जाय और यही सेना भी दे दी जाय तो फिर आप क्या करेंगे। क्या इस प्रकार के अनुपयोगी, भाररूप और अहित चाहने वाले सिपाहियों से युक्त सेना देश की रक्षा कर सकती है? सर्वदा असंभव है। उत्साही और शक्तिसंपन्न दस योद्धा जो कार्य्य कर सकते हैं उतना कार्य भी १००० मनुष्य ऐसी सेना में नहीं कर सकते। क्योंकि उनके अन्दर देशसेवा के भाव नहीं, प्रेम नहीं, संगठन नहीं, शक्ति नहीं, उत्साह नहीं, और न कार्य करने की कोई प्रणाली है, इस कारण सबसे प्रथम आपको इस सेना का संगठन ठीक करना पड़ेगा।

सबसे पहिले सारी सेना को अपने सन्मुख खड़ी कराइये और प्रारंभ से अंततक अवलोकन करिये। (२) बालक और वृद्ध आदमी जो शक्ति से हीन हैं और सैनिक कार्य के अयोग्य हैं, निकाल दिजिये। (३) जो अपनी इच्छा से नौकरी करना चाहें उन्हें रखिये और औरों को पृथक् करिये। (४) जिन्हें आपके देश का गौरव नहीं है, देशप्रेम नहीं है, उन्हें पृथक् करिये। (५) बचे हुओं में तुलनात्मक दृष्टि से देखिये जो अधिक साहसी, पुरुषार्थी अनुकूल एवं आज्ञापालक हों, उन्हें रखिये और बाक़ी को निकाल दीजिये। अब आपकी सेना उन्हीं म-

नुष्यों से युक्त मिलेगी जो आपमें प्रेम रखते होंगे और सैनिक कार्य्य के लिये सर्वदा योग्य हैं।

आपका मन भी ठीक इसी प्रकार की सेना के समान है, जिसमें असंख्य इच्छाएं प्रवेश हो चुकी हैं। कोई अनुकूल है तो कोई प्रतिकूल, कोई हितकारी है तो कोई अहित करनेवाली, जितनी इच्छाएं हैं न उन सब की पूर्ति हो सकती है और न उन सब के लिये एक समय में प्रयत्न हो सकता है क्योंकि उनमें कई इच्छाएं ऐसी भी हैं जो दूसरी इच्छाओं के प्रतिकूल हैं और एक की पूर्ति दूसरी इच्छाओं के बलिदान की आवश्यकता रखती है। इच्छाओं के अनेक होने के कारण मनुष्य की शक्तियां विभक्त होकर कमजोर हो जाती हैं और चिन्ता के कारण शिथिल पड़ जाती हैं। यही कारण है कि परिस्थिति के गुलाम मनुष्य अपनी इच्छा के अनुसार कोई कार्य्य नहीं कर सकते।

इस कारण यावत् आप अपनी वास्तविक इच्छा का स्वरूप नहीं पहिचानेंगे तावत् आप उसकी पूर्ति नहीं कर सकते। जिस प्रकार नियमों द्वारा उक्त सेना अल्प व्यय में सुव्यवस्थित रूप में परिणत की जा चुकी थी ठीक इसी प्रकार थोड़े समय में और थोड़े परिश्रम से वांछित फल की प्राप्ति के लिये इच्छाओं को नियमों से बांधने की आवश्यकता है।

उक्त सेना के अनुसार यहां भी अपनी सब इच्छाओं को एक काग़ज़ पर लिख लीजिये। चाहे इच्छा हार्दिक हो या किसी अन्य कारण से मन में उत्पन्न हुई हो, प्रत्येक इच्छा को लिखिये। तत् पश्चात् अपनी प्रतिमाओं से तुलनात्मक विचार कीजिये। जो त्याज्य प्रतिमा का "हां" में उत्तर दे उस इच्छा

को उस पत्र पर से काट डालिये और जो ग्रहण प्रतिमा का "हां" में उत्तर दे उसे रहने दीजिये। तदनन्तर जो इच्छाएं स्वयमेव उत्पन्न नहीं हुई वरन् अपर व्यक्तियों के कथनमात्र से इच्छा के रूप में आचुकी हैं और जिनका निश्चित रूप से चाह नहीं है उन्हें भी पृथक् कर दीजिये। इस समय कई इच्छाएं इस प्रकार की भी होंगी, जो परिणाम में एक होंगी वरन् संख्या और शब्दभेद से पृथक् पृथक् गिनी गई होंगी, इस कारण इस प्रकार की भिन्न भिन्न इच्छाओं को भी कि जिनका फल एक ही हो काट डालिये।

जिन इच्छाओं की पूर्ति में आनन्द कम है वरन् परिश्रम अधिक है उनको भी काट डालिये। इस समय तर्क का यथावत् उपयोग कर परिश्रम, आनन्द, समय और दृढ़ता का विचार कीजिये। जिनकी पूर्ति में कम परिश्रम, आनन्द अधिक, कम समय और जिनकी मन में स्वाभाविक दृढ़ता हो उन्हीं इच्छाओं को रखिये अब यह विचार कीजिये कि आप की इच्छाओं में कोई एक दूसरे के प्रतिकूल इच्छा तो नहीं है, यदि अभी तक भी इस प्रकार की कोई इच्छा जीवित रह चुकी हो तो उन विरुद्ध इच्छाओं में फिर आपस में तुलना कीजिये और अपनी बुद्धि का सदुपयोग करते हुए दोनों में से एक को पृथक् कर दीजिये।

कृपया दया और क्षमा का उक्त विवेचन में तनिक भी उपयोग न करिये क्योंकि संग्राम में दुश्मनों को सच्चे वीर दया और क्षमा का परिचय नहीं देते वरन् रणभूमि में तो दृढ़ता तथा शक्ति का पूर्ण उपयोग करना चाहिये।

इस इच्छा-युद्ध के उपरान्त अब वे ही इच्छाएं बचेंगी कि

जो आपके सर्वदा अनुकूल हैं और जो अब पहिले के बनिस्बत बहुत न्यून संख्या में होंगी। ये इच्छाएं अवश्य वे होंगी जिन्हें आप अपने हृदय से चाहते होंगे और, जिनकी पूर्ति करने में आपको कष्ट भी प्रतीत न होगा और यही इच्छायें आपकी प्रकृति का वास्तविक परिचय दे सकेंगी। इस तुलनात्मक विचार में आप अपनी बुद्धि, स्वतन्त्र विचार, अनुभव, स्मृति और तर्क का आवश्यक उपयोग कीजिये।

कई मनुष्य इच्छा के इस निर्णय पर बिना स्वतन्त्र विचार के पहुंच जाते हैं वरन् इस प्रकार के निश्चय से यथेष्ट सिद्धि को कभी नहीं प्राप्त होते।

तुलनामूलक विचार की सहायता उद्देश को निश्चित करने में ही आवश्यक नहीं है वरन् उसे कार्यरूप में परिणत करने के लिये भी अनिवार्य है। हम हमारे पाठकों के सन्मुख एक दृष्टान्त रखते हैं उससे ज्ञात हो जायगा कि तुलनात्मक विचार उद्देश को कार्यरूप में परिणत करने के लिये कितना उपयोगी है।

एक युवा पुरुष ने विवाह करना निश्चित किया। उसकी बुद्धि, शक्ति और विद्या का परिचय पाकर अनेक लड़कियों ने विवाह करने की इच्छा प्रगट की। उक्त पुरुष न उन सब लड़कियों से विवाह कर सकता है और न सब को प्रसन्न रख सकता है। ब्रह्मचारी का विवाह एक ही कन्या से होना है और जिसके साथ उसका विवाह होगा वही उससे प्रसन्न होगी और बाकी सब अप्रसन्न होगी। अब वह उन सबका परिचय पाकर एक पत्र पर उनका नाम लिख लेता है और साथ ही प्रत्येक के गुण भी उस नाम के सन्मुख लिख लेता है (१) रूपवान् और सुन्दर हैं, (२) सुंदर और वय में बड़ी

है, (३) कुरूपा और धनी, (४) वृहत् परिवार वाली तथा निर्धन, (५) लड़ाकू और धनी, (६) चपल एवं दुराचारी, (७) पठित और दूरदेश में रहने वाली है, (८) व्यङ्ग तथा धनप्राप्ति का साधन, (६) पति की आज्ञा के विरुद्ध चलना ही जिसका धर्म है, वलिष्ठ है और प्रतिष्ठित है, (१०) कलाकौशल में निपुण तथा रावण की वहिन शूर्पणखा सी नाकरहित है इत्यादि इत्यादि इस प्रकार सब के नाम और गुण लिख कर वह ब्रह्मचारी अपना विचार प्रारंभ करता है।

संतानोत्पति और सुखमय जीवन व्यतीत करना विवाह का उद्देश है। संतान उत्पन्न कर उनको सुशिक्षा और भरण पोषण का उचित प्रवन्ध करना मेरा कर्तव्य होगा। तत्पश्चात् यह भी विचारता है कि यदि मेरे और मेरी स्त्री के विचारों में समानता नहीं हुई तो गृहकलह को प्रतिदिन निमंत्रण देना पड़ेगा। इस प्रकार विवाह के निर्णय करने के लिये उद्देश, कर्तव्य, तर्क और अनुभव का यथावत् विचार करता हुआ वह ब्रह्मचारी प्रत्येक के गुणों में अपना हेतु सोचता है। १ली का रूप, २ री अधिक आयु, ३ कुरूप, ४ वृहत् परिवार, ५ झगड़ालू स्वभाव, ६ दुराचार, ७ पठित होना, ८ व्यंग, ६ प्रतिकूलता, १० कलाकौशल इत्यादि।

आजन्म का प्रश्न है, विवाह हो चुकने के पश्चात् चाहे कितनी भी आपत्तियां आवें वरन् एक ने दूसरे का त्याग करना मानवी मर्यादा के वाहर है। इस समय थोड़ीसी गलती करने से या दूसरों के कहने में आने से या किसी प्रलोभन या अन्य किसी प्रभाव से प्रेरित होकर कार्य्य करने से भावी जीवन कंटक एवं निराशामय हो जायेगा।

अपने पूर्व अनुभव का विचार करता है कि मुझे किस प्रकार के मनुष्य द्वारा शांति की प्राप्ति और दुःख का नाश हो सकता है, तर्क और बुद्धि का यथावत् उपयोग करता है।

ठीक इसी प्रकार ही मनुष्य को उद्देश और उसे कार्यरूप में परिणत करने के लिये तुलनात्मक विचार का उपयोग करना चाहिये। विना तुलनमूलक विचार के संकल्प में दृढ़ता और कार्य्यपरिणत होने की शक्ति नहीं प्राप्त हो सकती।

पाठ ३

निश्चयात्मक संकल्प

किसी संकल्प का निश्चयात्मक धारण करना अर्थात् उस पर दृढ़ रहना निश्चयात्मक संकल्प कहाता है। इसमें दो क्रियाएँ होती हैं। एक तो विचार द्वारा संकल्प का निर्णय, द्वितीय उसे मन में दृढ़ रखना। पहिली क्रिया एक गति और विचार का अन्त बतलाती है एवं दूसरी नई धारणा और नई मानसिक क्रिया का प्रारंभ अर्थात् केवल-संकल्प में एक क्रिया का अंत और दूसरी का प्रारंभ होता है।

गत पाठ में ब्रह्मचारी के विवाह-संकल्प का जो वर्णन लिखा है उससे मानसिक क्षेत्र में तीन गतियां सिद्ध होती हैं (१) विवाह की इच्छा, (२) तुलनात्मक विचार, (३) निर्णय। वह गति जो मन में विवाह की इच्छा से उत्पन्न हुई थी निर्णय पर ही केवल समाप्त नहीं होती वरन् क्रियान्वित होती हुई विवाह समाप्त करती है। यावत् विवाह नहीं होता तावत् उस गति की क्रिया संपूर्ण समाप्त नहीं होती। अर्थात् इच्छा, तुलनात्मक विचार, निर्णय, निश्चय और पुरुषार्थ इन भिन्न २ पांच क्रियाओं को संपूर्ण कर ही संकल्प समाप्त होता है अन्यथा नहीं।

कई लोग एक बात विचारते हैं उसे निश्चित भी कर लेते हैं वरन् उस निश्चय को कार्यरूप में परिणत नहीं करते, इस प्रकार के अर्ध संकल्प से क्या लाभ हो सकता है। एक व्यक्ति देवदत्त के समीप जाने का विचार करता है विचार से इच्छा उत्पन्न होकर वह जाने का निश्चय भी कर लेता है वरन् यावत् वह जाने की क्रिया का प्रारंभ न कर वहां पहुंच न जावे तावत् उसके संकल्प का पूर्ण कार्य समाप्त नहीं होता। इस प्रकार के संकल्प केवल हास्यास्पद ही नहीं वरन् हानिकारक भी हैं अर्थात् दृढ़ संकल्प भी विना कर्म के निष्फल हैं।

दूसरे प्रकार के मनुष्य जो संसार में अधिकांश पाये जाते हैं ऐसे भी होते हैं जो विना विचार किये किसी निश्चय पर पहुंच जाते हैं और कार्यारंभ भी कर देते हैं। ऐसे मनुष्य एक भी काम वास्तव में समाप्त नहीं कर सकते।

मननशील मनुष्य इन दोनों क्रियाओं का त्याग करते हैं यद्यपि उनका कार्य उपर्युक्त वर्णित पुरुषों से कुछ विलंब में अवश्य प्रारंभ होता है तथापि वे परिणाम को शीघ्र ही प्राप्त कर लेते हैं।

तीसरे प्रकार के मनुष्य ऐसे भी होते हैं जो विचार करते हुए भी किसी निर्णय को नहीं पहुंच सकते। एक समय एक खर को कहा गया कि हरा घास सर्दी करने वाला होता है इस कारण जब तू कभी कुछ खाय तो खूब विचार कर खाया कर। एक दिन वह किसी नदी के तट पर गया। तटस्थ स्थान में हरी घास को देखकर उसका जी ललचा गया, उसे कुछ प्यास भी लगी थी, कुछ दूर पर उसने सूखा घास भी देख लिया। अब वह यह रटता हुआ जा रहा है कि "हरा घास सर्दी करता है, मैं

जो कुछ भी खाऊं ठीक विचार करके खाऊं" उसके सन्मुख तीन वस्तुएँ उपस्थित हैं (१) हरा घास, (२) पानी, (३) सूखा घास। अब वह विचार प्रारंभ करता है, सोचता है कि यदि मैं हरा घास खालूं तो सर्दी हो जायगी, पानी पीलूं तो फिर कुछ खा नहीं सकूंगा और यदि सूखा घास खाऊं तो यह तो मैं प्रतिदिन ही खाता हूं, हरे घास की ओर देखकर उसका मन ललचा रहा है और वह अपने आप से पूछता है कि क्या मैं हरा घास खालूं? उत्तर में यही कहता है कि अभी खूब विचार कहां किया है। खूब विचार करलूं फिर खाऊंगा। इस प्रकार कह कर फिर विचार प्रारंभ करता है। बार२ विचार करने पर भी उसके "खूब विचार" का अंत नहीं होता वरन् कुछ देर के पश्चात् वह "खूब विचार" उसका ही अंत कर देता है। तात्पर्य्य यह है कि विचार इस प्रकार नहीं करना चाहिये कि इस गदहे वाली कहावत अपने ऊपर चरितार्थ हो जाय।

कई मनुष्यों के एक ध्येय के विचार में उनके द्वारा कई काम हो जाते हैं वरन् उनके एक विषय का विचार ही समाप्त नहीं होता ऐसे ही मनुष्य अन्त समय में हृदयविदारक करुणामयी वाणी से कहते हैं कि हमने अपने जीवन में कुछ भी नहीं किया वरन् इस समय पछताने से परिणाम क्या हो सकता है।

इस प्रकार के मनुष्य सरल से सरल कार्य भी अपनी इच्छा से नहीं कर सकते वरन् कठिन से कठिन कार्य भी इन्हीं मनुष्यों से भय और दंड द्वारा कराया जा सकता है परंतु इस प्रकार के कर्म से इन का वैयक्तिक लाभ क्या हो सकता है?

महाभारत के आदि पर्व के अन्तर्गत पौष्यपर्व के अध्याय

३ में एक कथा है वह चाहे सत्य हो या अलंकारिक वरन् तात्पर्य दोनों का एक ही निकलता है। इस कारण यहां पाठकवृंद उस को ऐतिहासिक दृष्टि से न देखकर उस के भाव पर ही विचार करेंगे।

एक दिवस वेद आचार्य ने अपने शिष्य उतङ्क को आज्ञा दी—"हे उतङ्क! मैं चाहता हूं कि मेरी अनुपस्थिति में गृह में जो कुछ अभाव हो तुम उन को पूरा किया करो" ऐसा कह कर गुरु वेद कहीं चले गये और उतङ्क उन के आश्रम में रहने लगा। उस काल में एक दिन उपाध्याय के घर की स्त्रियां एकत्र होकर उतङ्क को बुलाकर बोलीं "उतङ्क! तुम्हारी उपाध्यायनीं ऋतुमती हुई है, तुम्हारे उपाध्याय भी घर में नहीं हैं परदेश चले गये हैं, सो जिससे उनका ऋतु खाली न जाय, तुम तिसका विधान करो, क्योंकि वह बड़ी उदास हुई है"। ऐसी आज्ञा श्रवण कर उतङ्क बोला, "मैं स्त्रियों की बात सुन कर ऐसा कुकर्म नहीं करूंगा, उपाध्याय ने मुझे ऐसी आज्ञा नहीं दी, कि तुम कुकर्म भी करना"। उपाध्याय ने जब वापिस लौट कर यह बात सुनी तो वे उस पर बहुत ही प्रसन्न हुये। जब उतङ्क सब विद्या पढ़ चुका तब उसने उपाध्याय से गुरुदक्षिणा मांगने को कहा पर उन्होंने गुरुदक्षिणा लेने से इनकार किया वरन् जब उन्होंने उसका बहुत आग्रह देखा तो कहा कि तुम उपाध्यायनी से जाकर पूछो वे जो कुछ कहेंगी वही लाना।

इस प्रकार आज्ञा पाने पर वह उपाध्यायनी के समीप जाकर पूछता है कि "भगवति! उपाध्याय ने मुझे घर जाने की आज्ञा दी है, पर मैं आपकी वांछित गुरु-दक्षिणा लाकर ऋणमुक्त होकर घर जाना चाहता हूं सो आप आज्ञा कीजिये कि गुरुदक्षिणा के निमित्त क्या लाना होगा" ? उपाध्यायनी यह

श्रवण कर बोली " बेटा ! पौष्य राजा की स्त्री के धारण किये दो कुण्डल मांगलाओ, चार दिवस के अन्दर वे मेरे पास आ-जाने चाहियें अन्यथा तुम्हारा कल्याण नहीं है " ।

वड़ी कठिनता से उतङ्क उनको पाकर लौट रहा था । राह में वह उन कुण्डलों को धर कर पेशाव करने वैठ गया परन्तु इतने में नागराजा तक्षक ने आकर वे कुण्डल उठा लिये और एक विल में जा घुसा । उतङ्क अपने ध्येय पर अटल रहा वह परास्त नहीं हुआ । जंगल में उसके पास कोई साधन नहीं था इस कारण वह दृढ़तापूर्वक लकड़ी से विल खोदने लगा वरन् सफलमनोरथ नहीं हुआ । तिस पर भी उतङ्क को हताश न देखकर इन्द्र ने अपने वज्र को भेज कर उस विल को फड़वा डाला । वह उस विल के अन्दर घुसा यद्यपि आगे भी उसे वहुत कष्ट आये पर उस वीर ने उनका पीछा न छोड़ा ।

इस कथा से आपको निश्चयात्मक संकल्प का सच्चा स्व-रूप ज्ञात हो गया होगा । उतङ्क को अपने निश्चय से पतित करने के लिये कितना वड़ा प्रलोभन था इसका पाठक स्वयं अनुमान करलें । परन्तु उसने अपने संकल्प को नहीं तोड़ा । इसी भाव को प्रदर्शित करते हुए एक अंग्रेज़ कवि कहता है कि—

The pleasing way is not the right.

They that would conquer heaven must fight.

अर्थात् सच्चाई का मार्ग इतना सुगम नहीं है, जो स्वर्ग चाहता है उसे लड़ना (युद्ध करना) अवश्य चाहिये ।

प्रलोभन, आलस्य और प्रमाद मनुष्य को अपने निश्चय से पतित करते हैं वरन् मनुष्य को इनसे दृढ़ संकल्प द्वारा बचना चाहिये फिर वही कवि आगे चल कर लिखता है—

Brave Conquerors! for so you are that war against your own affections.

And the huge army of the world's desires.

विजय प्राप्त करने वाले मनुष्य को अपनी सब इच्छाओं से लड़ना होगा। तभी विजय प्राप्त हो सकती है, अन्यथा नहीं।

(२) उतङ्क अपने निश्चित उद्देश पर दृढ़ रहने और उसे क्रियान्वित करने पर भी इन्द्र की सहायता प्राप्त कर सका था, इसी भाव को ऋग्वेद में भी दर्शाया है:—

न ऋते श्रांतस्य सख्याय देवाः ॥ ४ । ३३ । ११ ॥

परिश्रम करने के बिना देव मित्रता नहीं करते अर्थात् देवों की सहायता तब ही होती है जब मनुष्य अपने निश्चय पर अटल रह कर पुरुषार्थ करता है।

चैतन्य संकल्प

चतुर्थ परिच्छेद

पाठ १

पुरुषार्थ ।

तुलनात्मक विचार कर किसी निश्चय को प्राप्त हो जाना ही बहुतसे मनुष्य अपना कर्त्तव्य समझते हैं वरन् संकल्प की गति वहां ही पूरी नहीं होती, तुलनात्मक विचार एवं निश्चय तो संकल्प को अपने वास्तविक रूप में लाते हैं वरन् निश्चित संकल्प को कार्य्यरूप में परिणत करना ही उसका वास्तविक ध्येय है।

आरामी कुर्सी या रमणीय आराम में बैठकर विचार करना और किसी निश्चय पर पहुंचना जितना सुगम है, उतना सरल कार्य्य परिणतता नहीं है। कई मनुष्य धार्मिक पुस्तक को अवलोकन कर या किसी महात्मा का ओजस्वी भाषा में उपदेश श्रवण कर इतने उत्साहित होजाते हैं कि आजन्म के लिये किसी व्रत का निश्चय कर लेते हैं और चाहे कितनी भी आपत्तियां आवें उसे पूर्ण करने की प्रतिज्ञा करते हैं, वरन् जो समय कार्य्य के प्रारम्भ करने के लिये निश्चित होता है उस अवसर पर आज के लिये क्षमा और कार्य्य कल से प्रारम्भ किया जायगा इत्यादि विचार उत्पन्न होते हैं।

ऐसे जनों से भरा हुआ है कि जो विवेचना, निश्चय

सतत परिश्रम में कुछ भेद नहीं समझते, वे जो कुछ भी समझते हैं वह यही है कि व्याख्यान और विचार के समय प्रभावोत्पादक भाषा का उपयोग करना किसी विषय के मर्मज्ञ हो जाना है और निश्चय कर लेना पुरुषार्थ से सदा के लिये मुक्त हो जाना है। इस प्रकार के मनुष्य अपने विचार से कोई काम नहीं कर सकते। ये जो कुछ भी करते हैं वह या तो परिस्थिति से आतङ्क होने का या किसी मनुष्य के भय का परिणाम होता है।

जिस कार्य्य के लिये परिस्थिति का प्रभाव या अन्य मनुष्य का भय न हो वह कार्य्य इन्हें असम्भव और शक्ति से परे मालूम होता है।

वीरकेसरी नेपोलियन का कथन है कि संसार में कोई भी वस्तु असंभव नहीं है। निःसन्देह ईश्वरीय नियमों के अनुकूल प्रत्येक कार्य्य संभव है वरन् यदि आवश्यकता है तो केवल निश्चय और सतत पुरुषार्थ की।

आपका निश्चय इतना दृढ़ होना चाहिये कि कोई प्रलोभन या शक्ति या मनुष्य या कोई कठिनता आपको अपने निश्चित ध्येय से नहीं हटा सकते यदि इस प्रकार का निश्चय आपका है तो विजय अवश्य है स्वयं परिस्थिति और कठिनता भी दृढ़ता के सन्मुख अनुकूल हो जाती है। निश्चय से परमात्मा भी उसी की सहायता करता है यथा ब्राह्मण ग्रन्थों में लिखा है "इंद्र इच्चरतः सखा" वह परमात्मा पुरुषार्थी का सखा और सहायक है।

एक कवि ने कहा है कि " सबहिं सहायक सबल के कोउ न निबल सहाय। पवन जगावत आग को दीपहिं देत बुझाई" जिस

मनुष्य का ज्ञान और कर्म का संगठन-वल वढ़ा हुआ है उस मनुष्य के सहायक सब ही होजाते हैं।

संसार में यह एक सर्वमान्य नियम है कि मनुष्य को जो कुछ भी मिलता है वह सब उसके किये हुए पुरुषार्थ का अन्तिम परिणाम है। विना परिश्रम के कोई वस्तु प्राप्त नहीं होती प्रत्येक मनुष्य चाहे वह छोटा हो या वड़ा शक्तिसंपन्न हो या शक्तिशून्य इस नियम का उल्लंघन करने में असमर्थ है।

कई भोले मनुष्य भाग्य की दुन्दुभि वजाकर कर्मनिष्ठता से वंचित होने का उपदेश देते हैं सही, वरन् यदि हम उनके भी जीवनी को परताल करें तो निःसंदेह हमें ज्ञान हो जाता है कि वे भी अवश्य कुछ न कुछ कर्म करते ही हैं। किसी न किसी रूप में पुरुषार्थ का अवलम्बन अवश्य हो जाता है चाहे वह स्वयं की इच्छा से हो या परिस्थिति की कठिनाई से या किसी भय से प्रभावित होकर हो, वरन् पुरुषार्थ के अटल नियम का उल्लंघन करते नहीं दिखाई देते।

ज्ञानी मनुष्य नियम को समझ कर पुरुषार्थरत होते हुए वांछित फल प्राप्त करलेते हैं और अज्ञानी जन उनकी अज्ञानता के कारण अपर मनुष्य या शक्ति द्वारा कठपुतली की नाईं नचाए जाते हैं।

यदि इस प्रकार के मनुष्यों के सन्मुख एक साधारण सर्प आजावे तो उस समय अपने भाग्य के नियम को वगल में दवा-कर जान वचाने की चेष्टा करते हैं यदि वहां इनसे कोई जाकर पूछे कि इस समय आपके भाग्य का नियम कहां गया तो उत्तर में मूक से रह जाते हैं।

नियम वह होता है कि जो सब काल में एकसा विद्यमान रहे अल्पकाल के लिये विद्यमान होना फिर अप्रचलित होजाना फिर प्रगट होजाना, नियम का लक्षण नहीं है।

वास्तविक सिद्धांत तो यह है कि जिसकी प्राप्ति के साधनों का ज्ञान इनकी स्थूल बुद्धि में नहीं आता या जिस कर्म को ये कठिन समझकर उस कार्य्य में आनेवाली आपत्तियों के लिये आलस्य के कारण अपने आनंद का त्याग नहीं कर सकते वहां तो ये अवश्य ही भाग्य के ऊपर टालकर पुरुपार्थ को निकृष्ट बतला देते हैं। अपनी मूर्खता और अकर्मण्यता को छिपाने के लिये और दूसरे मनुष्यों के सन्मुख अपनी प्रतिष्ठा को बनाये रखने के लिये यह एक सर्वोत्तम युक्ति है वस्तुत: पुरुपार्थ के नियम को ये भी भलीभांति जानते हैं क्योंकि क्षुधा से पीड़ित होने पर भोजनसामग्री के संग्रह करने और बनाने इत्यादि का कष्टसहते हुए ये कर्म करते दिखाई अवश्य देते हैं। आलसी और विद्या से शून्य रहने के कारण जब कोई काम इनसे नहीं होता या किसी बात को नहीं समझते तब भाग्य के सिद्धांत द्वारा ही भोले भाले लोगों को अपनी साधुता एवं विद्वत्ता का परिचय देते हैं।

पुरुप के अर्थ की प्राप्ति में प्रयत्न या जो कार्य्य विशेष होता है उसे पुरुपार्थ कहते हैं, यह कोई आवश्यक नहीं कि अर्थ की प्राप्ति में शारीरिक परिश्रम ही हो या कोई एक ही प्रकार का प्रयत्न विशेप हो वरन् भिन्न २ काल और परिस्थिति में भिन्न २ प्रकार के पुरुपार्थ करने पड़ते हैं। कभी पुरुपार्थ त्याग के रूप में होता है, कभी कर्म के रूप में और कभी तप (कष्ट) के रूप में। कहीं एक के सहारे फलसिद्धि हो जाती है और कहीं तीनों का आश्रय लेना पड़ता है। इस सिद्धांत का अनुभव

प्रत्येक मनुष्य हर समय कर सकता है कि जो कुछ भी उसे प्राप्त होता है वह उसके लिये पुरुषार्थ का परिणाम है।

जब आपको कोई वस्तु खरीदनी होती है तब उस पदार्थ के लिये अवश्य कुछ न कुछ देना पड़ता है यहां इष्टसिद्धि द्रव्य के त्याग से प्राप्त होती है। चोर जो चोरी करता है उसे भी अपने सत्कार भाव और आनन्द का त्याग कर प्रयत्न करना पड़ता है। योगियों को इन्द्रिय-भोग के आनन्द का त्याग कर विशेष कष्ट सहन करने के पश्चात् ही यौगिक सिद्धियां प्राप्त होती हैं।

स्मरण रखिये देश, काल और परिस्थिति के अनुसार पुरुषार्थ अर्थात् त्याग, तप और प्रयत्न की मात्रा में न्यूनाधिक होता है वरन् उसके परिणाम आनन्द, किये गये पुरुपार्थ के परिमाण से न्यूनाधिक नहीं होता, यह एक नियम है कि जितना दिया जाता है उतना ही प्राप्त होता है न कम और न अधिक।

जैसे एक पुरुप पंजाब में रहता है वह बहुत द्रव्य और कष्ट सहन करने के पश्चात् बम्बई पहुंचता है जो आनन्द इस पुरुष को बम्बई देखने से मिलता है वह आनन्द वहां के निवासी को उक्त शहर देखने से नहीं मिलता क्योंकि आनन्द पुरुषार्थ का परिणाम है और दोनों के पुरुपार्थ में भिन्नता होने के कारण दोनों के आनन्द में भी भिन्नता होती है। यदि एक प्रकार का सात्विकी भोजन एक राजा और एक साधारण मनुष्य खाये तो निःसन्देह जो आनन्द साधारण पुरुप को प्राप्त होगा वह आनन्द राजा को कभी नहीं हो सकता केवल पुरुपार्थ के भेद से।

पुरुपार्थ और फल का सामयिक सम्बन्ध नहीं है अर्थात इस

कर्म का परिणाम इतने समय में मिलेगा यह कोई निश्चित नियम नहीं है क्योंकि पुरुपार्थ और उसके फल का संवन्ध नित्य है और नित्य वह वस्तु होती है कि जिसका काल से कोई सम्बन्ध नहीं होता।

आज के किये पुरुपार्थ का परिणाम आज ही प्राप्त होगा या समयान्तर में भी प्राप्त हो सकता है वरन् प्राप्ति अवश्य होती है। जो मनुष्य पुरुपार्थ और फल के नियम से वचना चाहता है वह प्रकृति के एक बड़े नियम का उल्लंघन कर रहा है। बुद्धिमान् अपने ज्ञान से इस नियम को पाल कर अपनी इच्छाओं को पूर्ण करते हैं और मूर्ख अपनी अविद्या के कारण मनोकामना की पूर्त्ति से सदा के लिये वंचित रहते हैं।

अन्यान्य ग्रंथों से कुछ वाक्य उद्धृत किये जाते हैं आशा है पाठक महोदय उनके तत्वों को विचारेंगे और समय २ पर उनका स्मरण कर उनके भावों के संस्कार अपने मन पर डालते रहेंगे।

सतत पुरुपार्थः—

न श्वः श्व इत्युपासीत। को हि मनुष्यस्य श्वो॥ वेद॥

शा० ब्रा० २। १। ३। ६॥

"कल करूंगा, कल किया जायगा, ऐसा मत कहो। कौन मनुष्य कल की वात जानता है"।

पुरुष, अतः उत्क्राम। मा अव पत्थाः॥ वेद॥

O man? Rise up from this place?

'Sink not down ward,

हे मनुष्य ! उठो, उन्नति करो, पतित मत होवो।

A slow, sure and steady pace in the long run will win the race.

भावार्थः—धैर्य्य और दृढ़ता से सब कार्य्य सफल हो सकते हैं।

Let us then be up and doing with a heart for any fate still achieving, still pursuing learn to labour and to wait.

भावार्थः—उठो, पुरुषार्थ करो, मार्ग में आनेवाली आपदाओं के लिये तय्यार रहो, पुरुषार्थ करते जाओ वरन् परिणाम के लिये इतने उत्सुक मत होओ।

And easy good brings easy gains.

And things of price are bought with pains.

जो वस्तु थोड़े पुरुषार्थ से प्राप्त हो जाती है वह उतनी लाभदायी नहीं होती। अधिक आनन्ददायक वस्तु कठिनता का ही परिणाम होती है।

"पुरुषार्थ करते २ जब तुम्हें बहुत ही कठिनता प्रतीत होने लगे यहां तक सब तुम से विरुद्ध भी होजावें तब भी तुम अपने ध्येय को मत छोड़ो क्योंकि वह समय ही है जब कि तुम्हें तुम्हारे किये पुरुषार्थ का परिणाम प्राप्त होगा"।

हेरीट बीचर.

चलिये ! महाशय ! ! आगे बढ़िये ! निरुत्साहित न होइये ! कठिनताएं जो आपका मार्ग रोके खड़ी हैं आपको आगे बढ़ते हुये देख आपकी सहायक हो जायेंगी और आपके भावी जीवन की पथ-प्रदर्शक होंगी।

डा० एलेम बर्ट.

पराजय से मत डरो। जय के समान पराजय दूर नहीं है। यह पराजय वही है जो मनुष्य में नवीन शक्ति और अदम्य उत्साह का संचार करती है और विजय के लिये मार्ग को सुगम बना देती है।

हेनरी बीचर.

ध्येय की दृढ़ता रखना ही मनुष्य की बुद्धिमत्ता है।

वीर-केसरी नेपोलियन.

एक धार्मिक नेता का उपदेश अपने शिष्यवर्ग को:—

जिसको तुम करना चाहो उसके लिये निम्नलिखित प्रतिज्ञा अवश्य करो।

"मैं ईश्वर की साक्षी कर यह प्रतिज्ञा करता हूं कि जिस कार्य्य को मैं करना चाहता हूं उसे मैंने अच्छी तरह समझ लिया है, विचार लिया है, मैं उस पर दृढ़ रहूंगा परिणाम प्राप्ति तक उस कार्य्य को अधूरा नहीं छोड़ूंगा"।

"जिस कार्य्य का मैंने निश्चय कर लिया है उसके लिये या तो विजय ही प्राप्त होगी या मृत्यु"।

एक हृदय.

देखिये वेद क्या कहता है:—

वृत्राण्यन्यः समिथेषु जिघ्नते व्रतान्यन्यो अभि रक्षते सदा।
हवामहे वां वृषणा सुवृक्तिभिरस्मे इन्द्रावरुणा शर्म यच्छतम् ॥
ऋ० ७। ५। ८३॥

भावार्थ:—जो राजा लोग व्रतों की रक्षा करते और दुष्ट शत्रुओं का दमन करते हैं निश्चय से इन्द्र और वरुण नाम परमात्मा उनकी रक्षा करता है॥

दुष्टों का दमन करना राजाओं का मुख्य कर्तव्य है। इस कारण इस मंत्र में यह दर्शाया है कि जो मनुष्य नियमवद्ध होकर कर्तव्यनिष्ठ होता है उसी मनुष्य को वाह्यशक्तियां भी सहायता देती हैं इसी अभिप्राय से वेद में अन्यत्र भी उपदेश किया है देखिये:—

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्।
इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि ॥ यजु० १। ५ ॥

हे ईश्वर! हे नियमों के पालन करनेहारे! मैं इस व्रत को धारण करता हूं, उसकी पूर्ति के लिये आपसे प्रार्थना करता हूं, मैं इस व्रत पर अटल रहूं इससे विमुख तथा असमान मार्ग पर कभी नहीं विचरूं॥

इस मंत्र में दर्शाया है कि परमात्मा नियमवद्ध और दृढ़-व्रती पुरुषों की सहायता करता है। एक समय मनुष्य जिसे अपना कर्तव्य समझले फिर उससे विमुख कभी नहीं होवे। इस प्रकार वेदों में सर्वत्र नियमवद्ध, दृढ़व्रती और सतत् पुरुषार्थी होने का उपदेश है।

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ॥
ऋ० १० । १९१ । ४ ॥

हे मनुष्यो ! तुम्हारा संकल्प और हृदय समान होवे ।

कोई मनुष्य बड़े २ विचार करते हैं बड़े २ संकल्प करते हैं वरन् कर्म कुछ भी नहीं करते और कोई २ कर्म बहुत करते हैं वरन् संकल्प नहीं करते। इस कारण वेद कहता है कि तुम्हारे संकल्प और हृदय में समानता हो जितना संकल्प हो उसे कार्य्य रूप में अवश्य परिणत करो और देखिये इसी भाव को वेद ने अन्यत्र और भी स्पष्ट करदिया है:—

मूर्धानमस्य संसीव्या थर्वा हृदयं च यत् ॥
अ० १० । २ । २६ ॥

"मस्तक और हृदय को एक धागे से सीना चाहिये" प्रत्येक कार्य्य को पूर्ण करने के लिये दिल और दिमाग की आवश्यकता है जहां दोनों में से एक नहीं है बस वहां ही विजय नहीं है न केवल कर्म, विना विचार के जय प्राप्त करा सकते हैं और न केवल विचार विना कर्म के विजयी बना सकते हैं दोनों की आवश्यकता अनिवार्य है इसलिये वेद कहता है कि दिल और दिमाग को एक करो।

सत्यसिंधु महाराजा हरिश्चन्द्र के युवराज रोहित को एक समय भगवान् इन्द्र ने पुरुषार्थ की महिमा बतलाई थी, जो ऐतरेय ब्राह्मण में इस प्रकार वर्णित है—

नाना श्रांताय श्रीरस्तीति रोहित शुश्रुम। पापो नृषद्वरो जन। । इन्द्र इच्चरतः सखा । चरैवेति चरैवेति ॥ १ ॥

"हे रोहित ! जो मनुष्य पुरुषार्थ से वंचित रहते हैं उन्हें श्री नाम संपत्ति, ऐश्वर्य, प्रभुत्व आदि नहीं प्राप्त होते, ऐसा हम सुनते आये हैं। जो जन आलस्ययुक्त रहता है वही पापी होता है। निश्चय से पुरुषार्थी मनुष्य को इन्द्र नाम परमात्मा और अपनी आंतरिक शक्तियें सहायक होती हैं। इसलिये पुरुषार्थ करो, अवश्यमेव पुरुषार्थ करो"।

पुष्पिण्यौ चरतो जंघे भूष्णुरात्मा फलग्रहिः।
शेरेस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हताः ॥

चरैवेति चरैवेति ॥ २ ॥

"जो चलता है उसी मनुष्य की जंघाएं पुष्ट होती हैं। पुरुषार्थी मनुष्य की आत्मा ही उन्नति करने वाली और फल मिलने तक प्रयत्नशील होती है। उसके सर्व पाप परिश्रम के कारण बीच में ही नष्ट हो जाते हैं। इसलिये पुरुषार्थ करो, अवश्यमेव पुरुषार्थ करो"।

आस्ते भग आसीनस्योर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः।
शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भगः ॥

चरैवेति चरैवेति ॥ ३ ॥

"जो बैठा रहता है उसका ऐश्वर्य्य भी बैठा रहता है। जो खड़ा रहता है उसका ऐश्वर्य्य भी खड़ा रहता है। जो सोता है उसका ऐश्वर्य भी सो जाता है। और पुरुषार्थी मनुष्य का ऐश्वर्य्य उसके साथ चलता रहता है। इस कारण पुरुषार्थ करो, निश्चय से अवश्य पुरुषार्थ करो"।

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः ।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं संपद्यते चरन् ॥
चरैवेति चरैवेति ॥ ४ ॥

"सोना (शयन) ही कलियुग होता है। आलस्य त्याग देना ही द्वापर है। उठना त्रेतायुग होता है और पुरुषार्थ करना ही कृतयुग बन जाता है। इसलिये पुरुषार्थ करो, अवश्यमेव पुरुषार्थ करो।"

जो लोग कर्म से शून्य रहकर सदा भाग्य तथा काल को दोष दिया करते हैं उन्हें इस श्लोक के भावार्थ को विचारना चाहिये।

चरन्वै मधु विंदति चरन्त्स्वादुमुदुंबरम् ।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तंद्रयते चरन् ॥
चरैवेति चरैवेति ॥ ५ ॥

"मधुमक्षिका निश्चय से पुरुषार्थ द्वारा ही शहद प्राप्त करती है। पक्षी भ्रमण करके ही मीठे फल को प्राप्त करते हैं। देखो! सूर्य की शोभा इसीलिये है कि वह निरंतर घूमता हुआ भी नहीं थकता। इसलिये पुरुषार्थ करो, अवश्य पुरुषार्थ करो।"

पशु पक्षी, मक्खियां इत्यादि सब प्राणीमात्र पुरुषार्थ द्वारा ही अपने भोगों को प्राप्त होते हैं। बिना प्रयत्न के किसी को भी कुछ प्राप्त नहीं होता। इसलिये सब को पुरुषार्थ अवश्य करना चाहिये।

उपर्युक्त कतिपय श्लोक वेद तथा अन्यान्य ग्रंथों से उद्धृत किये हैं समय २ पर उनके संस्कार मन पर डालने से मन में उत्साह बढ़ेगा और कर्ममार्ग में उत्तरोत्तर प्रवृत्ति होगी। जब कभी कोई प्रलोभन आवे, आपत्ति आवे या अपने निश्चय से पतित करने के विचार अपने मन में ही उत्पन्न हों उस समय इन वाक्यों के भावार्थ और अपनी शक्तियों का विचार कीजिये निश्चय से संसार की कोई शक्ति आपको विजय प्राप्त करने से नहीं रोक सकती।

पाठ २

स्वाभिमान

स्वाभिमान मनुष्यता और जीवन का चिह्न है। संकल्प को जाग्रत रखने के लिये स्वाभिमान ही एकमात्र उपाय है। स्वाभिमानी को अपनी शक्ति में श्रद्धा रहती है। अभिमानी स्वस्थ, सुस्थिर एवं गंभीर रहता है, वह वर्षाकाल की तड़ित-वत् अपने संकल्प और विचार में परिवर्तन नहीं करता, सुख दुःख, हानिलाभ मनुष्य को हतोत्साहित कर भावी जीवन की सब आशाओं पर वज्राघात कर सकते हैं वरन् स्वाभिमान मनुष्य को सदा निस्पन्द एवं निश्चल रखता है, अपनी निन्दा स्तुति, भलाई बुराई उसे काक-कहावत प्रतीत होती है। यथार्थ स्वाभिमान एक अनुपम शक्ति है, वह साहस, वीरता एवं सहिष्णुता के भावों को उत्तेजित कर मन से भय एवं दीन विचारों को पृथक् कर संकल्प को उज्ज्वल बना देता है, अभिमान आपत्ति के समय में सच्चा मित्र का काम देता है। प्रलोभनों का नाश कर व्यक्ति को कर्मनिष्ठ बना देता है, यदि योरोप-केसरी नेपोलियन में स्वाभिमान की मात्रा नहीं होती

तो क्या उसमें असाधारण प्रतिभा, अदम्य उत्साह, अत्यन्त परिश्रम और अदृष्टपूर्व समरनैपुण्य के प्रभाव पाये जाते, वह हेलेना के टापू में क्षुद्र रक्षकों द्वारा अपने प्राण कष्टों से विसर्जन कर देता। महाकवि भारवि ने कहा है कि:—

"अभिमान धनस्य गत्वरैरसुभिः स्थास्नु यशश्चिचीषतः।
अचिरांशुविलासचञ्चला ननु लक्ष्मीः फलमानुषङ्गिकम्॥"

अभिमान ही जिसका मुख्य धन है, जो अपने नश्वर प्राणों की परवाह न करते हुये अक्षयमान सञ्चय करने में ही सदा लगे रहते हैं, वे सौदामिनी की नाईं चंचला कमला की उपासना नहीं करते, इतने पर भी लक्ष्मी उनके ऊपर कृपा करती है तो उसे आनुषङ्गिक फल समझना चाहिये॥

स्वाभिमानी पुरुष औरों की उन्नति देखकर हर्षित होते हैं और जो नहीं होते वे उसके सारभूत भाव से अनभिज्ञ हैं, आपको ज्ञात है कि जब भीमसेन ने दुर्योधन के किये हुये दुष्ट कर्मों को स्मरण कर उसके शिर में लात मारी थी उस समय राजसूयपूजित, स्वाभिमानी धर्मराज युधिष्ठिर अपने चित्त में बहुत ही दुखी हुए थे।

कोई २ व्यक्ति अपनी शक्तियों में इतना अभिमान रखते हैं कि वे अपने सामने औरों को कुछ नहीं समझते, मानो संसार की सर्व शक्तियां उनके पास आकर केन्द्रीभूत हो गई हों और वे प्रायः पृथ्वी पर पैर नहीं रखते, तनिक दस पांच चापलूसों द्वारा सम्मानित हो अभिमान में पागल हो जाते हैं यही वरन् ये भाव तामसी हैं एवं स्वाभिमान के वास्तविक सिद्धान्त से कोसों परे हैं। सच्चा स्वाभिमानी अपनी शक्तियों

में दृढ़ श्रद्धा रखता हुआ भी दूसरों के प्रति सहानुभूति एवं दया का भाव रखता है। उसका आदर्श उच्च और दूसरों के प्रति उसके हृदय में आदर का स्थान रहता है।

मनुष्य का मन सच्चे अभिमान से अलंकृत होने पर उसकी आशा, श्रद्धा और दृढ़ता क्रमशः उन्नत होती जाती हैं; जोकि प्रत्येक मानवी शक्ति को चैतन्य रखने के लिये अत्यन्त आवश्यकीय है।

आशा

आशा और श्रद्धा (Hope and faith) ही मनुष्य को अगम से अगम कार्य में प्रवृत्त कर सकती है और निराशा और अश्रद्धा संदेहयुक्त बना मनुष्य की प्रवृत्ति को हटा कर कर्म से वंचित और शक्तियों को संकुचित कर देती है।

कर्म-चक्र की आशा धुरी है, जो कितनी भी पुरानी होती हुई आपत्तियों से सताई हुई, असफलताओं से व्यथित की हुई, दुश्मनों से दलित होती हुई भी नाश नहीं होती, बड़े क्लेशों में जहां कि मनुष्य निःसहाय हो जाता है वहां यही आशा उसके हृदय को आश्वासन देकर कर्म में आरूढ़ रखती है।

कर्म चाहे कितना भी कठिन हो, भयानक हो या दूर हो वरन् आशारूपी वाहन पर आरूढ़ हुए हस्तामलक सा प्रतीत होने लगता है।

माता को प्रसवावस्था की असह्य वेदना यही आशा सह्य बना देती है, घोर नरक की रौरव यातनाओं में विश्वास होते हुए भी यही आशा मनुष्य को पापकर्म में प्रवृत्त करती है, शीतकाल में इतनी सर्दी के होते हुए भी यही आशा प्रातःकाल

में उठा, जप तप इत्यादि करा मनुष्य को धर्मपथ पर आरूढ़ रखती है, श्रद्धा और दृढ़ता का वशीकरणमन्त्र यही आशा हमें पढ़ाती है।

रसीली, प्यारी, धैर्य को दिलाने हारी यही आशा है कि जिसने भगवती सीता को राक्षसराज रावण के निर्जन कारा-गृह में जीवित रक्खा था।

घनघोर युद्ध में प्रलयकाल के से सूर्य की सी चमकती हुई तलवारों की किरणों में, तोपों की कड़कड़ाहट और असह्य शब्दों की आंधी में यही आशा वीर योधाओं को रण में प्रवृत्त कराती है।

यदि श्रद्धा और आशा मानसिक शक्तियों में इतनी अनुपम शक्ति का संचार कर सकती है तो दूसरी ओर अश्रद्धा और निराशा सर्व शक्तियों को संकुचित और निर्वीर्य बना देती है किसी महात्मा ने सच कहा है कि:—

" आशा ही जीवन है निराशा ही मृत्यु है "

दृढ़ता

आशा और श्रद्धा से युक्त होने पर भी दृढ़ता की अत्यन्त आवश्यकता है। जिस कार्य को प्रारम्भ कर दिया है उस कार्य की विधि में भी दृढ़ता रखना अनिवार्य है। स्वाभिमान से वंचित पुरुष में आशा, श्रद्धा और दृढ़ता तीनों की कमी रहती है वह (Weather cock) वायु की गतिसूचक यंत्र की नाईं अपने विचार और कार्य में परिवर्तन करता रहता है। अपवाद और बुराई के भय को छोड़ कर हमें दृढ़ता धारण करना चाहिये।

दृढ़ता का अर्थ है निश्चित मार्ग का अनुसरण। प्रारम्भ से लेकर अंतपर्यंत उचित मार्ग की दृढ़ता ही विजय प्राप्ति की सच्ची कुञ्जी है। आपको ज्ञात है कि जिस समय कोलम्बस के सब साथी निरुत्साही हो उसकी दृढ़ता को देख वे लोग उसका प्राणांत कर वापिस लौटने का निश्चय कर चुके थे ठीक उस समय अमेरिका की प्राप्ति उसी की दृढ़ता का परिणाम थी, अन्यथा थोड़ी देर के लिये दृढ़ता का त्याग करने से वह कोलम्बस उस यश का पात्र बनने से सदा सर्वदा के लिये वंचित रह जाता और संसार में आज उसके नाम को कोई भी न जानता होता।

पाठ ३

प्रवृत्ति

मन, वचन और कर्म का एक होना प्रवृत्ति का लक्षण है, प्रवृत्ति का संबंध बहुधा संचित कर्म से ही रहता है और उसकी शक्ति अनुपम है संसार की कोई शक्ति प्रवृत्ति को हटा नहीं सकती अपितु उससे टकराकर स्वयमेव चूर २ हो जाती है, या उसको सहायक बन मनुष्य में नवीन जीवन उत्पन्न करती है।

साधारण इच्छा के प्रतिकूल भी मनुष्य की प्रवृत्ति हो सकती है, कामी यह जानते हुये भी कि वेश्या के समीप जाने से असह्य दुःख एवं अनिच्छित दारिद्र्य का आगमन होगा वरन् तिस पर भी प्रवृत्ति नहीं रुकती। उस भीषण परिणाम को भला कौन नहीं जानता वरन् क्या कामी मनुष्य उससे वंचित रहता है? कारण केवल यही है कि उसके संस्कार जाग्रत हो चुके हैं, उसकी प्रवृत्ति प्रधान हो चुकी है।

प्रवृत्ति में बड़ी दिव्य शक्ति है, जाग्रत प्रवृत्ति अपने शत्रुओं को भी अनुकूल बनालेती है, न तर्क, बुद्धि, विचार और न ज्ञान ही प्रवृत्ति के प्रतिकूल हो कुछ कार्य्य कर सकते हैं। हां; उसके अनुकूल हो प्रत्येक अपनी २ उन्नति कर सकते हैं।

कई मनुष्य इसके गौरव को न समझ कर छोटे २ बालकों के साथ उनकी अकृत्रिम प्रवृत्ति को परिवर्तित करने का प्रयत्न किया करते हैं; वरन् प्रवृत्ति नहीं बदलती उन बालकों के साथ बलात्कार किया जाता है; उन्हें अपनी प्रवृत्ति को उन्नत करने के लिए कोई अवकाश नहीं दिया जाता। फलतः वे बालक दोनों मार्ग से वंचित रह जाते हैं। यदि उन बालकों को उनके अनुकूल शिक्षा और कार्यक्षेत्र दिया जाता होता तो निःसंदेह वे अपने २ विषय के नेपोलियन हो सकते थे वरन् विपरीत परिस्थिति ने तो उनका नाम निशान तक नहीं रहने दिया।

वीर सावरकर यदि आज अनुकूल परिस्थिति पाता होता तो निःसंदेह वह २० वीं शताब्दी का नेपोलियन होजाता वरन् प्रतिकूल परिस्थिति ने आज तो उसे एक साधारण आदमी सा भी नहीं रक्खा, अभी वह अवश्य नौकरशाही के कारावास में है अपनी प्रवृत्ति को जाग्रत और उसका सदुपयोग करने के लिए वहां न कोई साधन है और न कोई कार्य्य-क्षेत्र वरन् क्या इससे उस दृढ़वीर की प्रवृत्ति को कोई हानि पहुंच सकती है; किंचित् भी नहीं उसके कारागृह से लौटने पर पूर्व से कई अंश में अधिक प्रवृत्ति होगी और हम अनुभव करेंगे कि प्रत्येक कष्ट जो कि उसे अपनी प्रवृत्ति को छोड़ने के लिए दिया गया था, वह प्रवृत्ति का नाश करने के वनिस्वत उसे जाग्रत करता रहा है।

भक्त प्रह्लाद को कितने २ कष्ट दिये गये और उसके पिता ने चाहा कि किसी भी प्रकार प्रह्लाद अपनी प्रवृत्ति में परिवर्तन कर मेरे अनुकूल हो जाय। प्रत्येक प्रकार का भय और अनुचित दंड दिया गया वरन् प्रवृत्ति नाश होने के बनिस्बत उत्तरोत्तर संवृद्ध होती गई और अंत में उसी की विजय हुई।

कौन नहीं जानता कि वीर नेपोलियन के मार्ग में कैसी २ रुकावटें आईं वरन् वे कठिनाइयां, आपत्तियां और भय उसकी प्रवृत्ति में किंचित् भी परिवर्तन नहीं कर सके।

इस सिद्धांत की पुष्टि में अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं वरन् विस्तारभय से उपरोक्त दृष्टांत ही पर्याप्त हैं और प्रत्येक मनुष्य इसे स्वयमेव ही अनुभव कर सकता है।

जितना अदम्य उत्साह और निर्भयता से राजनैतिक क्षेत्र में यूरोप में नेपोलियन ने कार्य्य किया उससे महर्षि दयानंद का कार्य्य धार्मिक क्षेत्र में कुछ कम नहीं था, नेपोलियन को जनता और शस्त्र की सहायता प्राप्त थी वरन् स्वामी दयानंद इन दोनों से वंचित था। यद्यपि दोनों का उत्साह, निर्भयता और कार्य्यसंलग्नता प्रशंसनीय अवश्य है तथापि नेपोलियन महर्षि दयानन्द नहीं हो सकता था और न महर्षि नेपोलियन हो सकते थे। यदि दोनों एक ही समय में उत्पन्न हुए होते और दोनों का कार्य्य आपस में बदल दिया जाता तो निस्संदेह इतिहास के पृष्ठों में इन दोनों-महात्माओं के नाम ढूंढ़ने पर भी नहीं मिल सकते थे। दोनों ही अपनी २ शक्तियों का उपयोग नहीं कर सके होते। तात्पर्य्य यह है कि प्रवृत्ति के अनुकूल कार्य्य करने से ही मनुष्य को अपनी प्रत्येक शक्ति सहायता दे सकती है प्रतिकूल कार्य्य में नहीं।

प्रवृत्ति और उसके नियमों के विषय में बहुत कुछ लिखा जा सकता है। मैं इसकी विस्तृत व्याख्या किसी अन्य पुस्तक में करूंगा यहां इतना कह देना अनुचित न होगा कि संकल्प-शक्ति को उन्नत करने में और उसे जाग्रत रखने में प्रवृत्ति अनुपम सहायता देती है इस कारण प्रत्येक मनुष्य को अपनी प्रवृत्ति के अनुकूल ही संकल्प की उन्नति करनी चाहिये।

संकल्प-विकास

परिच्छेद ५

पाठ १

अभ्यास

पूर्व अध्यायों में संकल्प, उसका वास्तविक स्वरूप और उसको जाग्रत रखने के साधनों का वर्णन आचुका है। अब इस अध्याय में संकल्प को उन्नत करने के साधनों का वर्णन संक्षेप में किया जाता है।

संसार में प्रत्येक व्यक्ति इस सिद्धांत को जानता है कि प्रत्येक प्राप्ति किसी न किसी पुरुषार्थ का परिणाम होती है। यहां पर यह प्रश्न हो सक्ता है कि यदि इस सिद्धांत को प्रत्येक मनुष्य जानता है और प्रत्येक फल इसी सिद्धांत द्वारा ही मिलता है तो ज्ञानी और अज्ञानी में क्या भेद है। द्वितीय यह कि फिर प्रत्येक मनुष्य वांछित फल को प्राप्त क्यों नहीं होता? इसका उत्तर यह है कि ज्ञानी मनुष्य अपने ज्ञान के बल से पुरुषार्थ में होने वाले परिश्रम को अल्प कर अपनी शक्तियों के अनुकूल बनालेता है और अज्ञानी मनुष्य अविद्या के कारण परिश्रम की कठिनता से मार्ग में ही ध्येय को छोड़ देता है।

अनथक परिश्रम को बालक की क्रीड़ावत् बना देने वाली यह वही संजीवन बूटी है जिसे भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को महाभारत युद्ध में पदार्पण करते समय पिलाई थी और कहा था कि हे अर्जुन! जो तुम कहते हो कि मन अत्यंत चंचल

है सो इस अभ्यासरूपी खड्ग को लेओ और प्रत्येक फल हस्तामलक सा प्रतीत करो।

आज इस अभ्यास की महिमा को देखते हुए हमें चकित होना पड़ता है और विश्वास आता है कि जिसे हम छोटी से छोटी वस्तु समझते थे वह छोटी नहीं वरन् कई शक्तियों से पूरित है।

इस अभ्यास द्वारा मनुष्य ने असंभव को संभव बना दिया, निःसंदेह शक्ति से परे की बात को शक्ति में उतादी। न ध्यान की आवश्यकता है और न विचार की।

तरने वाले मनुष्य को यदि नदी में पटक दिया जाय तो वह अभ्यास के बल स्वयमेव ही बिना विचारे और बिना किसी विधि का ध्यान किये, तैरने लग जायगा। जब किसी पठित मनुष्य से यह पूछा जाता है कि १२ में १२ का गुणा करने से क्या परिणाम होगा तो वह बिना सोचे विचारे एक-दम १४४ कह देगा, वरन् यदि आप किसी अभ्यासहीन पुरुष से पूछिये तो उसे उत्तर देने में कितना समय लग जायगा।

संसार की प्रत्येक वस्तुएँ अभ्यास के नियम से बंधी हुई दिखाई देती हैं जीव और निर्जीव दोनों संसार में समान रूपसे कार्य्य करते दिखाई देते हैं।

हमें अनुभव है कि जब हम एक नया जूता पहिनते हैं तब वह अभ्यास के बिना पांव को कष्ट देता है यहांतक कि कभी २ तो सुजाकर घाव तक कर देता है वरन् आप उसका अभ्यास प्रतिदिन करते रहिये तो वह जूता आपके पद का रक्षण करता है। नई मशीन न इतनी जल्दी काम कर सकती है

और न इतना काम भी दे सकती है कि जितनी वह मशीन जो कुछ काल तक उपयोग में लाई जा चुकी हो। नया वस्त्र पहिनने से वदन में जरा लगता हुआ मालूम होता है वरन् आप उसे दो तीन वार पहिनिये, वह वदन पर है भी या नहीं इतना भी मालूम न होगा। आप एक लोटा भर कर सूखी भूमि पर डाल दीजिये, वह न तो इतनी शीघ्रता से प्रवाहित होगा और न एक मार्ग से वहेगा वरन् आप पहिले थोड़ा सा जल लेकर एक मार्ग बनादें और फिर एक लोटा जल भर कर डाल दें पानी शीघ्रता से और उसी मार्ग से वह जायगा कारण उसका यह ही है कि नई वस्तु इतनी शीघ्रता से काम नहीं कर सक्ती वरन् अभ्यास होने से प्रत्येक कार्य्य शीघ्र, अनुकूल और सरल हो जाता है।

नियम यह है कि प्रत्येक कर्म कर्त्ता के मन में और किये गये स्थान दोनों में अपना अस्तित्व (संस्कार) छोड़ जाता है और यह संस्कार भविष्य में होने वाले अनुकूल कर्म की कठिनता और समय को अपनी शक्ति-अनुसार कम करता है ज्यों २ संस्कार अधिकाधिक होते जाते हैं त्यों २ कठिनता दूर होती जाती है और समय भी कम लगता है। एक बालक चोरी करता है प्रथम दिवस उसे भय मालूम होता है और चोरी कठिनता से ही कर सक्ता है दूसरी वार उसका भय कम होता है और इसी प्रकार प्रत्येक वारी के साथ उसका भय कम होता जाता है यहां तक कि वह विद्या में निपुण और चोरी के कार्य्य को एक साधारण कार्य्य समझने लगता है।

मोटर का हांकने वाला प्रथम दिन जब कि वह उस कार्य्य को सीखने के लिये जाता है वह कार्य्य उसे बड़ा असंभव सा

और कठिन प्रतीत होता है, वरन् इसी अभ्यास के बल द्वारा वह कार्य्य उसे कुछ दिन उपरांत कितना सरल हो जाता है।

प्रोफेसर राममूर्ति तथा अन्य सरकस वाले इसी अभ्यास से कितने आश्चर्ययुक्त कार्य्य दिखलाते हैं यह प्रत्येक का अनुभव है।

यह कहा जा चुका है कि कर्म मन पर ही नहीं वरन् स्थान पर भी जहां उनकी क्रिया होती है कुछ न कुछ संस्कार अवश्य डालते हैं और वे संस्कार कालांतर में भी हमारे मन को प्रभावित करते हैं।

प्रत्येक घर का प्रभाव भिन्न २ संस्कार के होने के कारण भिन्न २ होता है, कोई २ मकान में जाने से आपके अन्दर एक प्रकार के विचित्र भाव जाग्रत होजाते हैं, किसी गृह में जाने से भय और शोक के भाव उत्पन्न होते हैं और किसी के अंदर जाने से एक प्रकार का आनन्द उत्पन्न होता है वरन् उस शोक और आनन्द का कारण क्या है यह वे मनुष्य नहीं कह सकते।

इसी प्रकार जब आप कभी बाज़ार में जाते हैं तो कई दुकानें आपको आकर्पित करती हैं और कई ऐसी भी होती हैं कि जिनके पास जाने से आपके मन में एक प्रकार की ग्लानि उत्पन्न होती है।

इसी कारण प्राचीन समय में ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम और वानप्रस्थ तथा संन्यासाश्रम प्रथक् २ बनाये जाते थे और प्रत्येक आश्रम दूसरों से बहुत दूरी पर होता था। न गृहस्थ, ब्रह्मचारी के यहां ठहर सक्ता था और न ब्रह्मचारी ग्रहस्थ के यहां।

तपोवन एक निश्चित स्थान हुआ करता था सब वहीं जाकर तप करते थे। कोपभवन, आनन्दभवन, विलासभवन, मिलापभवन इत्यादि भिन्न २ प्रकार के कार्य के लिए भिन्न २ और पृथक् २ भवन बनाये जाते थे, क्योंकि प्राचीन महर्षिगण इस सिद्धांत को जानते थे कि प्रत्येक कर्म का भूमि पर भी असर होता है और इससे मन प्रभावित हो सक्ता है।

धर्मधुरंधर भरत तथा शत्रुघ्न जिस समय अपने मामा के यहां से आये थे उस समय अयोध्या के प्रत्येक गृह, वृक्ष तथा सड़कों पर इतना संस्कार हो चुका था कि भरत के अयोध्या में प्रवेश होते ही उनका मन दुखी: और उदास होगया था, परन्तु कारण अज्ञात था।

योगीराज महादेव अपने पर दृढ़ वैराग्य के भाव सदा जागृत रखने के लिए ही श्मशान भूमि पर रहना स्वीकार करते थ।

कौन नहीं जानता कि सुमन्त का मन कितना क्लेशित हो चुका था उस समय जब कि उसने राजा दशरथ और कैकेयी को कोपभवन में देखा ही न था, दशरथ के मिलाप के प्रथम ही उसके मन पर केवल कोपभवन की दीवारों का क्या प्रभाव पड़ा था इसका वर्णन रामायण के पढ़ने से भली प्रकार ज्ञात होता है।

जिन सज्जनों ने गुरुकुल कांगड़ी देखा होगा उन्हें इस बात का पता लग जायगा कि कट्टर विरोधी भी जबतक उस भूमि की सीमा में रहते हैं तावत् आर्य्य-समाज के प्रति घृणा और द्वेष के भाव छोड़ कर सहानुभूति प्रकट करने लगते हैं,

साधारण और धार्मिक जीवन व्यतीत करने के भाव मन में जाग्रत होते हैं।

आप महात्मा गांधी के साबरमती आश्रम में जाइये वहां अपने मनोभाव में विचित्र परिवर्तन का अनुभव करेंगे।

इस प्रकार जो कर्म हम कर रहे हैं जो हमारे मनोभाव हैं उनका संस्कार भूमि पर भी गिरता है और वे संस्कार हमें उन्हीं के अनुकूल उत्तेजित करते हैं, इस कारण इस सिद्धांत को ठीक प्रकार समझ कर हमारे उत्साह को बढ़ाने की योग्य सहायता लेनी चाहिये।

किसी कार्य्य का बार २ किया जाना उसका अभ्यास कहाता है, प्रत्येक अभ्यास सरल से सरल कार्य्य से प्रारंभ किया जाना चाहिये, अनेक मनुष्य जो कि किसी कर्म के अभ्यास से वंचित हैं, किसी कारण अत्यंत उत्साहित होने पर उस कार्य का कठिन होने पर भी प्रारंभ कर देते हैं।

वरन् अभ्यास के अभाव के कारण वह कार्य्य कुछ काल बाद उनसे छूट जाता है इस कारण किसी कार्य्य के अभ्यास को उसके सरल रूप से प्रारंभ कर अपनी शक्ति के अनुसार शनैः २ बढ़ाना चाहिये।

असफलता—संकल्पशक्ति को उन्नत करने के अर्थ जो अभ्यास प्रारंभ किया जाता है उसमें असफल होना अच्छा नहीं, प्रारंभिक दशाएं प्रत्येक वस्तु की नाजुक रहा करती हैं क्योंकि उस समय न तो इतना अनुभव ही होता है और न बाधाओं को रोकने की शक्ति ही होती है।

शनैः २ अभ्यास द्वारा यावत् वह कार्य्य हमारी आदत में

न आजाये तब तक उस कार्य के अभ्यास को छोड़ना निस्संदेह महान् हानिकारक है।

प्रत्येक क्रिया, प्रतिक्रिया का कारण हो जाती है इसे मैं दूसरे शब्दों द्वारा प्रथम कह चुका हूं॥

चित्त एक केमरे (तस्वीर उतारने का यंत्र) की नाजुक स्लेट के सदृश है जिस पर हमारी प्रत्येक मानसक्रिया अंकित होती है। इस क्रिया की मनोविज्ञान के नियमानुसार किसी न किसी समय पर प्रतिक्रिया अवश्य होती है।

इसी चित्त में स्मृति है कि जहां प्रत्येक संस्कार एकत्रित होकर विद्यमान रहते हैं और यही आदत का मुख्यकारण है।

इस कारण प्रत्येक कार्य्य को अपनी आदत में लाने के लिये निम्नलिखित बातों पर विशेष ध्यान देना चाहिये।

(१) सरल से सरल कार्य्य से प्रारंभ करना।

(२) अभ्यास शनैः २ बढ़ाना।

(३) और जब तक आदत न पड़ जाय तब तक लगातार करते रहना, आलस्य नहीं करना।

किसी कार्य्य को पूर्ण करने का निश्चय करके उसे प्रारम्भ कर देना और कुछ काल पश्चात् उसे छोड़ देना आत्मा के प्रति विश्वासघात कहाता है और ऐसा करने से अपनी शक्तियों में अविश्वास और कार्य्य को प्रारंभ करना फिर छोड़ देना, इस प्रथा की आदत हो जाती है।

जिस प्रकार एक मनुष्य धागा लपेटते २ अपने हाथ में से धागे की अट्टी को एक सैकंड के लिये यदि छोड़दे तो जितना परिश्रम उसने १५ मिनिट तक किया होगा वह सब नष्ट सा हो जायगा और यदि इसी प्रकार का क्रम रहा तो निस्संदेह वह कभी भी अपने कार्य को समाप्त न कर सकेगा। ठीक इसी प्रकार वह मनुष्य अपने किये हुए परिश्रम का नाश कर रहा है यदि वह प्रारंभ किए हुए कार्य को एक दिन के लिये भी छोड़ देगा।

संकल्पशक्ति की उन्नति करने के लिये सदैव ऐसे कार्य अभ्यास में करने चाहियें जिनसे हमारे निजू स्वार्थ का कोई संबन्ध न हो यदि अभ्यास में आप वे कार्य करेंगे कि जिनसे आपका कोई हित होता हो या कोई भय या कष्ट से बचने का उपाय हो तो वह कार्य संकल्प को उन्नत नहीं कर सकेगा।

उदाहरण के लिये कुछ नीचे लिखे जाते हैं:—

(१) कमरे में दस मिनिट तक टहलना।

(२) किसी भी पुस्तक के पृष्ठ के अक्षरों को गिनना।

(३) किसी भी पुस्तक को एक नियत समय तक पढ़ना इत्यादि २।

उपर्युक्त उदाहरणों का ही अवलम्बन करना चाहिये यह कोई आवश्यक नहीं है वस्तुतः संकल्पशक्ति जो सबल होती है वो इस अभ्यास से ही नहीं वरन् उन नियमों से कि जिनका ध्यान रखना अत्यंत आवश्यकीय है और वे निम्नलिखित हैं—

(१) अभ्यास करने के प्रथम उस विधि का यथावत् निश्चय।

(२) नियत समय पर कार्य का प्रारंभ, नियत विधि का पालन और निश्चित समय पर ही उस कार्य समाप्त करना।

(३) नियत विधि या समय में कार्यारंभ करने के पश्चात् कुछ भी परिवर्तन नहीं करना।

इस प्रकार अभ्यास प्रतिदिन करने से आपकी संकल्प-शक्ति उन्नत होगी और दृढ़ता और कर्तव्यपरायणता के गुण में वृद्धि होगी।

पाठ २

विकल्प

जब हम किसी कार्य को प्रारंभ करदें उस अवस्था में सदैव इस बात का विचार रखना चाहिये कि हम प्रतिकूल और कर्ममार्ग से पतित करने वाले विचारों से या प्रारंभ किये हुए कार्य के विरुद्ध कर्म से अपने आपको सदा पृथक् रक्खें, या तो विरुद्ध कर्मों का विचार कार्यारंभ करने के प्रथम ही करलेना चाहिये या उस कार्य के आदत में पड़जाने या समाप्त होने पर, कार्य करते समय विरुद्धता के भावों से अपनी आत्मिक शक्तियों में संकुचता उत्पन्न होती है।

नवीन वेदान्त के ग्रन्थों में प्राय: यह पाया जाता है कि जिस प्रकरण में वैराग्य का वर्णन होगा उसी प्रकरण में उसी विषय की मोहित करने वाली शक्तियों की सविस्तार व्याख्या होगी, जहां स्त्रियों से वैराग्य का उपदेश होगा वहीं उनके सौन्दर्य की खासा चर्चा मिलेगी, उनका एक व्याख्यान दो भागों में बांटा जा सकता है एक शृङ्गार-रस की विवेचना, दूसरा उसकी बुराइयां।

मानस शास्त्र के नियमानुसार ये दोनों ही सिद्धान्त दूषित हैं और यही कारण है कि नवीन वेदान्त के ग्रन्थों का अधिक प्रचार होते हुए भी उनके अनुयायियों में वैराग्य और ईश्वर-भक्ति की मात्रा बहुत कम है, जो नहीं सी कही जा सकती है, बहुधा पाया गया है कि नवीन वेदान्त के सिद्धान्तों की आड़ में कई ऐसे पाप होते हैं कि जो साधारण पुरुष की दृष्टि में भी घृणित प्रतीत होते हैं।

भला विचारिये कि जिस विषय का हमें सर्वथा त्याग करना है उस विषय के सौन्दर्य और राग का सविस्तर विचार करने से और उसकी बुराई के बहाने से निरंतर उसके ही संस्कार मन पर डालने से संचित संस्कार की जागृति होगी या नाश ?

यदि आपका शत्रु आपको मारने के लिये समीप उपस्थित हो जाय तो क्या उसके गुणानुवाद करने से कुछ लाभ हो सकता है किंचित् भी नहीं, शत्रु का नाश करने से या उसके दूर और दुर्बल रहने से ही अपना हित हो सकता है।

स्वामी रामतीर्थ ने भी अपनी व्याख्यानमाला के द्वितीय भाग में कहा है कि प्राणायाम का जप करते समय यदि घृणित भाव आवें तो उनके विषय में उसके परिणामों की खूब विवेचना करनी चाहिये यहांतक कि उनसे स्वाभाविक घृणा मन में उत्पन्न हो जाय और वे भाव हृदय से अपना स्थान छोड़कर भाग जायें।

मनो विज्ञान इस सिद्धांत को स्वीकार नहीं करता कि केवल घृणा ही त्याग का कारण है, प्रत्येक मनुष्य को घृणित विचारों से घृणा उत्पन्न होती है वरन् हमारा यह दैनिक अनुभव है कि अधिकांश जनसंख्या घृणित विचारों से ही

प्रायः सताई जाती है इससे स्पष्ट है कि घृणित विचारों के घृणापूर्ण विवेचन से दूषित विचार पृथक् नहीं किये जासकते। मन यदि सद्विचारों से पूरित नहीं किया जायगा तो बुरे विचारों से अवश्य ही पूर्ण रहेगा इसमें कोई संदेह नहीं है, अच्छी से अच्छी वस्तु उत्पन्न हो सकती है क्या कहीं बुराई से अच्छाई उत्पन्न होती देखी गई है?

मन यदि सद्भावों से भर दिया गया तो प्रतिक्रिया सद्भावों की होगी, न बुरे विचार आवेंगे और न बुरे विचारों की प्रतिक्रिया ही होगी।

वेद, उपनिषद्, गीता इत्यादि ऋषिप्रणीत ग्रन्थों का अवलोकन करने से पता लगता है कि जहां इन पुस्तकों में कुत्सित विचार और कर्म से बचने का उपाय बतलाया है वहां उस विषय की बुराइयां या उसकी शक्तियों का गुणानुवाद करने के बनिस्वत उसका त्याग करने से जो लाभ प्राप्त होता है उसका वर्णन कूट २ कर भरा है।

रामायण को देख लीजिये एक ओर राम धर्मात्मा और गुणसंपन्न थे तो दूसरी ओर रावण दुष्टता और अवगुणों से परिपूर्ण था। रामायण न तो रामचन्द्रजी के लिये बनाई गई और न रावण के लिये वरन् उनके पश्चात् होने वाले लोगों के लिए उसकी रचना की गई थी वरन् महामुनि वाल्मीकिजी ने राम और उनके अनुयायियों के गुण तथा सद्भावों का चित्रण कितना सुचारुरूप से दिया है और रामायण में गुणों का वर्णन दुर्गुणों के बनिस्वत कहीं अधिक संख्या में है।

अन्यान्य ऋषिप्रणीत ग्रंथों में जहां ब्रह्मचर्य का उपदेश है वहां ब्रह्मचर्य से लाभ और ब्रह्मचारी की प्रशंसा करने में

अधिक श्रम किया गया है बनिस्बत व्यभिचारियों के अवगुण वाद या व्यभिचार का दिग्दर्शन करने में—

देखिये इस विषय में वेद क्या कहता है:—

मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ यजुः ३४ । ६ ॥

मेरा मन सदा उत्तम संकल्प करने वाला होवे ।

मनो यज्ञेन कल्पताम् ॥ यजुः १८ । २९ ॥

मन सत्कर्म में लगाइए ।

अदीनाः स्याम शरदः शतम् ॥ यजुः ३६ । २४ ॥

आयुष्य भर के लिये दीन, कुत्सित एवं पराजित भावों का त्याग कीजिये ।

स्वं महिमानमायजताम् ॥ यजुः २१ । ४७ ॥

अपने प्रभाव का गौरव अपने मन में रखिए ।

अकर्मा दस्युरभि नो अमंतुरन्यव्रतो अमानुषः ॥
ऋ० १० । २२ ॥

जो पुरुषार्थ नहीं करता, सुविचार नहीं करता, अपने उन्नति कार्यों को छोड़कर अन्य कर्म करता है और जो अमानुषिक कर्म करता है वह मनुष्यों में दस्यु है ।

वधैर्दुःशंसां अप दूढ्यो जहि ।
दूरे वा ये अंति वा केचिदत्रिणः ॥ ऋ० १। ९४ ॥

बुरा भाषण करने वाले, दुष्ट विचार करने वाले और स्वार्थ से अपने भोग भोगने वाले जो कोई दूर या समीप होवे उन सब का वध करो।

जो मनुष्य दुष्ट, पतित या हीन विचार करने वाले हैं वे वेद की दृष्टि में हनन करने योग्य हैं।

परोपेहि मनस्पाप ॥

हे मन के पाप! दूर हो जाओ।

अप दुष्कृतान्यजुष्टान्यारे ॥

दुराचार और दुर्विचार दूर रक्खो।

जो जन प्रायः दूसरे मनुष्यों के दुर्गुणों पर अधिक प्रकाश डाल कर उनकी तीव्र आलोचना किया करते हैं; यदि आप उन मनुष्यों की जीवनी पर विचार करेंगे तो आपको ज्ञात होगा कि उनके विचार और आचार में कितनी पवित्रता रहती है वही दुर्गुण कि जिसकी वे सदा निन्दा किया करते हैं उनकी जीवनी में कहीं अधिक अंश में पाया जाता है, विद्वान् और साधु पुरुष अपना जीवन दूसरों की बुराई ढूंढ़ने में व्यतीत नहीं करते।

जब मनुष्य कोई निश्चय करता है तो उसे उस निश्चय के विपरीत विचारों से युद्ध करना पड़ता है, रणभूमि में पदार्पण कर शत्रु का आह्वान करने के उपरांत अपनी दारा और पुत्र इत्यादिक की चिंता विजय की सहायक नहीं वरन् घातक हो जाती है। शत्रु पर विजय प्राप्त करना यही एक उद्देश अपने सन्मुख रखने से प्रवृत्ति उत्तेजित रह सकती है।

निश्चित विषय और उसके विभिन्न विचार एक दूसरे के शत्रु हैं। एक के अस्तित्व में दूसरे का नाश अवश्य है, इस कारण अपने अनुकूल विचारों को ही मन में उत्पन्न होने देना चाहिये।

एक खिलाड़ी लड़का पाठशाला जाने के लिये सदैव बहाना किया करता था इस कारण एक दिन उसके पिताने चिढ़ कर उसे बहुत पीटा, मार के कारण बहुत भयभीत होकर उस लड़के ने अपने पिता को अब पाठशाला में प्रतिदिन जाने का वचन दिया। दूसरे दिन जब वह जा रहा था कि उसके मन में ये विचार उत्पन्न हुये कि मैं प्रतिदिन आनन्ददायक खेल खेलता रहा, क्या ही वह आनन्द आता था, मित्रवर्ग के साथ हँसी मज़ाक होते थे, कभी २ मैं किसी को खेलते २ मार भी देता था बरन् आज वह आनन्द कहां है। क्या करूं पिता का भय है नहीं तो पाठशाला कभी नहीं जाता और इसी भय के कारण उस लड़के ने खेलने के विचार को छोड़ कर सीधा मार्ग स्कूल का लिया।

कुछ दूर आगे चलकर उसने एक झुंड खिलाड़ियों का देखा, उसे देख कर उसने कुछ देर तक ही खेलने का विचार किया वह यह सोचने लगा कि यदि मैं पाठशाला को चला गया तो फर छुट्टी होने पर मुझे शीघ्र ही घर जाना पड़ेगा अन्यथा पिताजी विलम्ब होने का कारण पूछेंगे और यह सुनकर कि खेलने के कारण देर हुई है तो निःसन्देह वे मुझे कल से भी अधिक मारेंगे। इस प्रकार विचार कर वह उस झुंड में जा मिला, जब कुछ देर व्यतीत होगई तब वह खेल के खतम होने की बाट जोहता रहा। इसी प्रकार जब कभी उसके मन में स्कूल जाने का विचार उत्पन्न होता था तो वह उसका समाधान तर्क

और युक्ति द्वारा कर दिया करता था यदि वह खेल में प्रवेश होते समय अपने पिता को हाथ में एक डण्डा लिये हुये आते देख लेता तो अवश्य वह अपना निश्चय खेलने के बनिस्बत पाठशाला में जाने के निमित्त करता।

कारण यह है कि प्रत्येक वस्तु का इन्द्रिय के साथ संबन्ध होने से कल्पना उत्पन्न होती है और यह कल्पना संचित संस्कारों को जागृत कर प्रवृत्ति को बढ़ाती है।

अपने कमरे में आलेख्य (तस्वीरें) रखने का जो उद्देश है वह यही है कि वे समय २ पर हमारे मन में संस्कारों की जागृति कर कर्ममार्ग में प्रवृत्त करती रहें और हमारे उत्साह को बढ़ाते हुए अन्य मानसिक शक्तियों को उत्तेजित करती रहें, वरन् खेद है कि आधुनिक सभ्यता ने इस प्रथा को इतना परिवर्तित और भयंकर स्वरूप दे दिया है जो अवर्णनीय है।

स्वार्थपरायण चित्रकारों ने विषयलंपट मनुष्यों से अपनी जेब भरने के लिये भगवान् कृष्ण की गोपियों सहित अनेक अश्लील चित्र उतारे हैं और उन चित्रों का वे ही मनुष्य सत्कार करते हैं जो गीता को ईश्वरवाक्य समझते हैं और कृष्ण को परमात्मा, इस प्रकार की अश्लील दुर्भाव उत्पादक चित्रों के रखने से गृह की देवियों और माताओं पर क्या दुष्परिणाम होता होगा और चरित्र-पतन में कितनी सहायता मिलती होगी यही विचारणीय है।

जिन कृष्ण ने गीता में ब्रह्मचर्य पर इतना ज़ोर दिया, द्रौपदी के चीरहरण पर जिनकी क्रोधाग्नि इतनी प्रज्वलित होती है कि महाभारत सदृश महासमर को रचना पड़ा,

भीष्मपितामह समान पूज्य सम्बन्धी की अपशब्द कह कर निन्दा करनी पड़ी और जो स्त्रियों की लज्जा रखने के लिए अपने आप की कुछ भी परवाह न करते हुए निःशस्त्र रण में लड़ते रहे, आज उन्हीं त्यागमूर्ति कृष्ण से कई लोग चोर और विषय-लंपटता के भाव ग्रहण करते हैं यही आश्चर्य है। विचारशील पाठकों से निवेदन है कि वे इस सिद्धांत पर विचार करें और उद्देश को समझकर इस परिपाटी को उसके वास्तविक रूप में लाने का प्रयत्न करें।

पाठ ३

तप।

द्वन्द्वों को सहना तप कहाता है अपने कर्ममार्ग में जो कष्ट आवें उन्हें सहना तप है। प्रत्येक कार्य में कोई न कोई कष्ट अवश्य आता है, बिना उसके सहे सफलता प्राप्त नहीं होती। यदि हम हमारी असफलताओं का विचार करें और उनके कारणों को जानना चाहें तो विचार करने से ज्ञात होता है कि आने वाले कष्ट को सहन करने की शक्ति न होने के कारण ही हम बहुधा असफल हुए हैं।

वेद में तप का वर्णन ब्रह्मचर्य सूक्त में बार बार आता है। निस्संदेह बिना ब्रह्मचर्य के तप का अभ्यास होना अशक्य है।

अर्वाचीन शिक्षा में न अध्यापकवर्ग और न माता पिता ही इन बातों पर ध्यान देते हैं। फलतः नवयुवकों में न सहन-शीलता होती है और न साहस ही रहता है।

प्रातःस्मरणीय भगवान् रामचंद्र को जब यह आज्ञा दी जाती है कि तुम १४ वर्ष के लिये वन को चले जाओ, उस समय उनके सन्मुख एक ओर राज्य का प्रलोभन और पिता की आज्ञा का विचार था और दूसरी ओर वनका असह्य दुःख परंन्

रामचंद्रजी न राज्य की परवाह करते हैं और न वन के दुःखों की।

यह कथारूप होकर हमारे सुनने का विषय ही नहीं है वरन् यह बतला रही है कि उस समय में राजा, महाराजाओं के बालकों को भी तप का अभ्यास कराया जाता था।

जिस समय महात्मा गांधी ने यह अपील की थी कि भारत-माता का उद्धार करने के लिये विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार किया जाय, उस समय कांग्रेस में भाग लेने वाले, उससे सहानुभूति रखने वाले और गांधी की माला जपने वाले असंख्य दिखाई देते थे वरन् विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार और मोटी खादी के पहिनने का कष्ट कितने मनुष्यों ने उठाया यह प्रत्येक के अनुभव की बात है। कष्ट के सहन करने की शक्ति न होने से कितनी हानि हो सक्ती है यह इससे सिद्ध होता है।

इतिहास इस सिद्धांत की पुष्टि में असंख्य उदाहरण देता है कि जिस जाति में कष्ट को सहन करने की शक्ति, तपोबल न रहा फिर वह जाति संसार में जीवित न रह सकी।

कई मनुष्य तप का नाम सुनते ही व्याकुल हो उठते हैं। यह इसका पर्याप्त प्रमाण है कि उनमें कष्ट को सहन करने की शक्ति का सर्वदा अभाव है वरन् प्रत्येक मनुष्य कष्ट सहन कर सक्ता है यदि वह शनैः २ अभ्यास करता रहे।

प्रत्येक दिवस कुछ न कुछ कार्य ऐसा अवश्य करना चाहिये जिसे हम कष्टदायक तथा अपनी इच्छा के प्रतिकूल समझते हों। इस प्रकार करने से आत्मा में एक नवीन शक्ति की जागृति होगी और आवश्यकता पड़ने पर आपको कर्माभिविमुख होने से रोक सकेगी।

समय आवेगा और आप इस सिद्धांत का मूल्य समझेंगे।

विक्रयार्थ पुस्तकें

वैदिक जीवन

(लेखक—प्रो० विश्वनाथ विद्यालङ्कार)

यह पुस्तक अथर्ववेद के आधार पर लिखी है। इस में स्तुतिप्रार्थनोपासना, वैयक्तिक जीवन की उन्नता, कर्मयोग, ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम और गृहस्थव्यवहार, पारिवारिक व्यवहार, दानभाव, अतिथियज्ञ, राष्ट्रीयजीवन, अन्तर्राष्ट्रीय और विश्वप्रेम के भाव आदि उपयोगी विषयों के मन्त्र, मन्त्रार्थ और भावार्थ दिये हैं। पृष्ठसंख्या २३१, दाम ॥।) मात्र।

समाचारपत्रों ने, इस पुस्तक की बहुत उत्तम आलोचना की है। यथा —

(१) राज्यरत्न मास्टर आत्मारामजी "शिक्षक बड़ौदा" में लिखते हैं कि—"इस पुस्तक में जीवनसम्बन्धी उपयोगी विषयों का ऐसा सारसंग्रह है मानो कि माली ने एक उत्तम सुगन्धित फूलों की माला तय्यार करदी है। प्रत्येक सनातनधर्मी तथा आर्यबन्धु को यह उपयोगी पुस्तक, जिससे वेदमन्त्रों का महत्व और जीवन को वैदिक बनाने के पुष्कल साधन मिलते हैं, अवश्य पढ़नी चाहिये"।

(२) दैनिक "आज" काशी…"इस पुस्तक में वैदिकजीवन [illegible] विभिन्न अङ्गों का विशद निरूपण है। इसमें वेदकालीन अन्तर्राष्ट्रीय [illegible]ावनाओं, विश्वप्रेमसम्बन्धी विचारों, तथा राष्ट्रीय जीवन के प्रधान प्रकरणों का सुन्दर संग्रह है। हर्ष की बात है कि मन्त्रार्थों में साम्प्रदायिकता की बू वा व्यर्थ की खींचातानी नहीं। तीसरा, नवां [illegible]र दसवां प्रकरण मुझे अधिक पसन्द आया। पुस्तक का दाम भी [illegible]ी है"।

(३) साप्ताहिक "मतवाला" कलकत्ता..."इस पुस्तक के लिखने में लेखक को अच्छी सफलता मिली है। भावार्थ सुन्दर और सयौक्तिक हैं। व्यर्थ की खींचातानी नहीं की गई। मूल्य सस्ता है।"

(४) साप्ताहिक "मारवाड़ी" नागपुर...स्वाध्यायप्रेमियों के लिये यह पुस्तक विशेष उपयोगी है और आर्य गृहस्थ की यह पुस्तक शोभा बढ़ा सकती है"।

(५) मासिक "आर्य" लाहौर........."लेखक ने जो लिखा है सोच विचार कर पूर्णतया निश्चित रूप से लिखा है। मंत्रों के भावार्थों के विचार करने में अनुपम योग्यता का परिचय दिया है। वेदसम्बंधी जितने पुस्तक शताब्दी के समय प्रकाशित हुए हैं, उन सब में, इस दृष्टि से यह पुस्तक उत्तम है"।

(६) साप्ताहिक "Patriot" लखनऊ..."Pt. Vishwa Nath has given a view or the synopsis of the Atharva Veda. The author has given beautiful explanations of the Veda mantras. The keen sight and the admirable learning of the author is quite evident from the exposition of the Veda mantras. He has given all etymological explanations that are very suggestive and instructive. The book is very cheap as well."

(७) दैनिक "Tribune" लाहौर........"This book comprises an analytical and comprehensive exposition of a large number of Vedic mantras bearing upon life in its different aspects. The book is designed to place before the reader a glimpse of the enormous treasure of the Vedas, and to induce him to dive into its depths."

पुस्तक प्राप्ति का स्थान—
सोमपुस्तकालय, क़ैसरगंज, अजमेर.